

## Chapter नौ

### भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में भीष्मदेव का देह-त्याग

सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।

ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; भीतः—डरे हुए; प्रजा-द्रोहात्—प्रजा के मारे जाने से; सर्व—समस्त; धर्म—धर्म के कार्य; विवित्सया—जानने के लिए; ततः—तत्पश्चात्; विनशनम्—युद्ध-स्थल; प्रागात्—वे गए; यत्र—जहाँ; देव-व्रतः—भीष्मदेव; अपतत्—मरने के लिये लेटे थे।

सूत गोस्वामी ने कहा : कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल में इतने सारे लोगों का वध करने के कारण घबराये हुए महाराज युधिष्ठिर उस स्थल पर गये, जहाँ नर-संहार हुआ था। वहाँ पर भीष्मदेव मरणासन्न होकर शरशय्या पर लेटे थे।

तात्पर्य : इस नवम अध्याय में, जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा थी, भीष्मदेव राजा युधिष्ठिर को वृत्ति-विषयक कर्तव्यों के सम्बन्ध में उपदेश देंगे। भीष्मदेव इस मर्त्यलोक से प्रयाण करते समय भगवान् से अन्तिम प्रार्थना भी करेंगे और इस प्रकार भावी भौतिक कार्यों के बन्धन से मुक्त हो जाएंगे। भीष्मदेव को वरदान प्राप्त था कि वे इच्छानुसार देह-त्याग कर सकते हैं और वे अपनी इच्छा से ही इस तरह शरशय्या पर लेटे थे। इस महान योद्धा का इस प्रकार से निधन, समस्त समकालीन श्रेष्ठ पुरुषों को आकृष्ट करनेवाला था, अतएव सारे लोग इस महात्मा के प्रति अपने प्यार, सम्मान तथा स्नेह की भावना प्रदर्शित करने के लिए वहाँ एकत्र हुए थे।

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।

अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ॥ २ ॥

## शब्दार्थ

तदा—तब; ते—वे सब; भ्रातरः—भाई; सर्वे—एकत्र; सत्-अश्वैः—श्रेष्ठ घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले; स्वर्ण—सोने से; भूषितैः—विभूषित; अन्वगच्छन्—अनुगमन किया; रथैः—रथों पर; विप्राः—हे ब्राह्मणों; व्यास—व्यासदेव; धौम्य—धौम्य मुनि; आदयः—इत्यादि; तथा—उसी प्रकार।

उस समय उनके सारे भाई स्वर्णाभूषणों से सजे हुए उच्च कोटि के घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले सुन्दर रथों पर उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। उनके साथ व्यासदेव तथा धौम्य जैसे ऋषि ( पाण्डवों के विद्वान पुरोहित ) तथा अन्य लोग थे।

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः ।

स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ॥ ३ ॥

## शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ( श्रीकृष्ण ); अपि—भी; विप्र-ऋषे—हे ब्रह्मर्षियों; रथेन—रथ पर; स-धनञ्जयः—धनञ्जय ( अर्जुन ) सहित; सः—वे; तैः—उनके द्वारा; व्यरोचत—अत्यन्त राजसी प्रतीत हो रहे थे; नृपः—राजा ( युधिष्ठिर ); कुबेर—देवताओं का भंडारी, कुबेर; इव—सदृश; गुह्यकैः—गुह्यक नामक साथियों से।

हे ब्रह्मर्षी, भगवान् श्रीकृष्ण भी, अर्जुन के साथ रथ पर सवार होकर पीछे-पीछे चले आ रहे थे। इस प्रकार राजा युधिष्ठिर अत्यन्त राजसी प्रतीत हो रहे थे, मानो कुबेर अपने साथियों ( गुह्यकों ) से घिरा हो।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण चाहते थे कि सारे पाण्डव भीष्मदेव के पास पूरे राजसी ठाठबाट से जाएँ, जिससे वे अपने अन्तिम समय उन्हें देखकर प्रसन्न हों। कुबेर देवताओं में सबसे धनी है। यहाँ पर युधिष्ठिर कुबेर की तरह प्रतीत हो रहे थे, क्योंकि श्रीकृष्ण के साथ यह जुलूस राजा युधिष्ठिर के राजपद के अनुकूल था।

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।

प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥ ४ ॥

## शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; निपतितम्—लेटे; भूमौ—भूमि पर; दिवः—आकाश से; च्युतम्—गिरे हुए; इव—सदृश; अमरम्—देवता; प्रणेमुः—प्रणाम किया; पाण्डवाः—पाण्डु-पुत्रों ने; भीष्मम्—भीष्म को; स-अनुगाः—अपने छोटे भाइयों सहित; सह—सहित; चक्रिणा—चक्रधारी भगवान्।

आकाश से आ गिरे देवता के समान उन्हें ( भीष्मदेव को ) भूमि पर लेटे देखकर पाण्डव-सम्राट युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाइयों तथा भगवान् कृष्ण समेत उन्हें प्रणाम किया ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण भी महाराज युधिष्ठिर के ममेरे भाई तथा अर्जुन के अन्तरंग सखा थे । लेकिन सारा पाण्डव-परिवार कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता था । भगवान् को, यद्यपि अपने परम पद का आभास रहता था, तो भी वे मनुष्य की तरह आचरण करते थे, अतएव उन्होंने भी मरणासन्न भीष्मदेव को अपने को राजा युधिष्ठिर का छोटा भाई मानकर प्रणाम किया ।

तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम ।

राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ॥ ५ ॥

### शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ब्रह्म-ऋषयः—ब्राह्मणों में ऋषि; सर्वे—समस्त; देव-ऋषयः—देवताओं में ऋषि; च—तथा; सत्तम—सतोगुण को प्राप्त; राज-ऋषयः—राजाओं में ऋषि; च—तथा; तत्र—उस स्थान पर; आसन्—उपस्थित थे; द्रष्टुम्—देखने के लिए; भरत—राजा भरत के वंशजों में; पुङ्गवम्—प्रधान को ।

राजा भरत के वंशजों में प्रधान ( भीष्म ) को देखने के लिए ब्रह्माण्ड के सारे सतोगुणी महापुरुष, यथा देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि वहाँ पर एकत्र हुए थे ।

तात्पर्य : ऋषि वे हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक उपलब्धि द्वारा पूर्णता प्राप्त की है । ऐसी आध्यात्मिक उपलब्धि कोई भी अर्जित कर सकता है, चाहे वह राजा हो या साधु हो । भीष्मदेव स्वयं ब्रह्मर्षि थे और राजा भरत के वंशजों में प्रमुख थे । सारे ऋषि सतोगुणी होते हैं । वे सभी महान योद्धा की आसन्न मृत्यु का समाचार सुनकर वहाँ एकत्र हुए थे ।

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः ।

बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ॥ ६ ॥

वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।

कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ॥ ७ ॥

## शब्दार्थ

पर्वतः—पर्वत मुनि; नारदः—नारद मुनि; धौम्यः—धौम्य; भगवान्—ईश्वर के अवतार; बादरायणः—व्यासदेव;  
 बृहदश्वः—बृहदश्व; भरद्वाजः—भरद्वाज; स-शिष्यः—अपने शिष्यों सहित; रेणुका-सुतः—परशुराम; वसिष्ठः—वशिष्ठ;  
 इन्द्रप्रमदः—इन्द्रप्रमद; त्रितः—त्रित; गृत्समदः—गृत्समद; असितः—असित; कक्षीवान्—कक्षीवान; गौतमः—गौतम;  
 अत्रिः—अत्रि; च—तथा; कौशिकः—कौशिक; अथ—तथा; सुदर्शनः—सुदर्शन।

पर्वत मुनि, नारद, धौम्य, ईश्वर के अवतार व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम तथा उनके शिष्य, वसिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, कौशिक तथा सुदर्शन जैसे सारे ऋषि वहाँ उपस्थित थे।

तात्पर्य : पर्वत मुनि सबसे ज्येष्ठ मुनि माने जाते हैं। वे नारद मुनि के लगभग निरन्तर संगी होते हैं। वे अन्तरिक्ष यात्री भी हैं, जो किसी भौतिक यान की सहायता के बिना वायु में यात्रा करने में समर्थ हैं। पर्वत मुनि भी नारद के समान ही देवर्षि अर्थात् देवताओं में महान ऋषि हैं। वे महाराज परीक्षित के पुत्र महाराज जनमेजय के यज्ञ के समय नारद के साथ उपस्थित थे। इस यज्ञ में विश्व के सारे सर्पों का विनाश किया जाना था। पर्वत मुनि तथा नारद मुनि गंधर्व भी कहलाते हैं, क्योंकि वे भगवान् की महिमा का गायन करते हुए आकाश में विचरण कर सकते हैं। चूँकि वे आकाश में विचरण कर सकते हैं, अतएव उन्होंने वहीं से द्रौपदी का स्वयंवर (पति का चुनाव) देखा था। नारद मुनि की भाँति पर्वत मुनि भी स्वर्ग में राजा इन्द्र के दरबार में जाया करते थे। गंधर्व के रूप में वे कभी-कभी एक महत्त्वपूर्ण देवता कुबेर के राज-दरबार में जाते थे। एक बार नारद तथा पर्वत दोनों के ही सामने महाराज सृञ्जय की पुत्री के कारण समस्या आ खड़ी हुई। महाराज सृञ्जय को पर्वत मुनि के वरदान से पुत्र-लाभ हुआ।

नारद मुनि का पुराणों की कथाओं से अनिवार्य सम्बन्ध है। उनका वर्णन भागवतम् में हुआ है। अपने पूर्वजन्म में वे एक दासी के पुत्र थे, लेकिन शुद्ध भक्तों की संगति से उनमें भक्ति जगी और अगले जन्म में वे अद्वितीय सिद्ध पुरुष बने। महाभारत में उनके नाम का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। वे प्रमुख देवर्षि हैं। वे ब्रह्माजी के पुत्र तथा शिष्य हैं और उन्हीं से ब्रह्मा के आगे की शिष्य-परम्परा चलती है। उन्होंने प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज तथा अनेक विख्यात भगवद्भक्तों को दीक्षित किया। यहाँ तक कि उन्होंने वैदिक ग्रंथों के प्रणेता व्यासदेव को भी दीक्षा दी।

व्यासदेव से ही मध्वाचार्य को दीक्षा मिली और इस प्रकार मध्व-सम्प्रदाय जिसमें गौड़ीय सम्प्रदाय भी सम्मिलित है, सारे ब्रह्माण्ड में फैल गया। श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध इसी मध्व सम्प्रदाय से था। अतएव ब्रह्माजी, नारद, व्यास से लेकर मध्व, चैतन्य तथा षड् गोस्वामी—ये सारे एक ही शिष्य-परम्परा से सम्बन्धित थे। नारद जी ने अनादि काल से अनेक राजाओं को दीक्षा दी। *भागवत* में हम उन्हें प्रह्लाद महाराज को माता के गर्भ में उपदेश देते पाते हैं। उन्होंने कृष्ण के पिता वसुदेव तथा महाराज युधिष्ठिर को भी उपदेश दिया था।

*धौम्य*—ये एक महान ऋषि थे, जिन्होंने उत्कोचक तीर्थ में कठिन तपस्या की और उन्हें पाण्डव राजाओं के राजपुरोहित के रूप में नियुक्त किया गया। उन्होंने पाण्डवों के अनेक संस्कारों में पुरोहिताई की और द्रौपदी की सगाई के समय उन्होंने हरेक पाण्डव का संस्कार कराया। वे पाण्डवों के वनवास के समय भी उपस्थित थे और जब भी उन्हें कोई कठिनाई होती, तो वे उन्हें परामर्श दिया करते थे। उन्होंने उपदेश दिया था कि किस प्रकार एक वर्ष तक अज्ञातवास किया जाय और पाण्डवों ने उनके उपदेश का कठोरता से पालन किया था। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद जब सामूहिक अंतिम संस्कार सम्पन्न हुआ, तो भी उनका नाम आता है। *महाभारत* के अनुशासन पर्व (१२७.१५-१६) में उन्होंने महाराज युधिष्ठिर को अत्यन्त विस्तृत धार्मिक उपदेश दिया है। वास्तव में वे गृहस्थों के लिए उपयुक्त पुरोहित थे, क्योंकि वे पाण्डवों को धर्म के उचित पथ पर मार्गदर्शन कर सके। पुरोहित का कार्य गृहस्थ को *आश्रम धर्म* या किसी वर्णविशेष की वृत्ति के समुचित मार्ग पर क्रमशः अग्रसर कराना है। एक कुल-पुरोहित तथा आध्यात्मिक गुरु में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। ऋषि, मुनि, सन्त तथा ब्राह्मण ऐसे ही कार्यों के लिये हुआ करते थे।

*बादरायण (व्यासदेव)*—वे कृष्ण, कृष्ण द्वैपायन, द्वैपायन, सत्यवती-सुत, पाराशर्य, पराशरात्मज, बादरायण, वेदव्यास आदि नामों से विख्यात हैं। वे महान सेनापति पितामह भीष्मदेव के पिता महाराज शन्तनु से, उनकी माता सत्यवती की सगाई होने के पूर्व ही, उनके गर्भ से महामुनि पराशर के पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए थे। वे नारायण के शक्त्यावेश अवतार हैं और वे सारे विश्व में वैदिक ज्ञान का प्रसार करते हैं। इसलिये जब किसी वैदिक ग्रंथ का, विशेष रूप से पुराणों

का पारायण करना होता है, तब व्यासदेव को नमस्कार किया जाता है। शुकदेव गोस्वामी इनके पुत्र थे और वेदों की विभिन्न शाखाओं के लिये नियुक्त वैशम्पायन जैसे ऋषि, उनके शिष्य थे। वे महाकाव्य *महाभारत* तथा परम दिव्य ग्रंथ *भागवत* के रचनाकार हैं। उन्होंने *ब्रह्म-सूत्र-वेदान्त सूत्र* या *बादरायण-सूत्र* का संकलन किया था। अपनी कठिन तपस्या के कारण वे ऋषियों में सर्वाधिक सम्मानित रचनाकार हैं। उन्होंने कलियुग की जनता के कल्याणार्थ जब अपने महाकाव्य *महाभारत* को लिखाना चाहा, तब उन्हें ऐसे समर्थ लिपिक की आवश्यकता हुई, जो उनके श्रुत-लेख को लिखता जाय। ब्रह्माजी के आदेश से श्रीगणेशजी ने यह कार्य इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि व्यासदेव एक क्षण भी रुकेंगे नहीं। इस प्रकार व्यास तथा गणेश के संयुक्त प्रयास से *महाभारत* संकलित हुआ।

अपनी माता सत्यवती के आदेश से, जो बाद में शन्तनु से ब्याही गई, तथा महाराज शन्तनु की प्रथम पत्नी गंगा से उत्पन्न शन्तनु के सबसे बड़े पुत्र भीष्मदेव के अनुरोध से व्यासदेव ने तीन मेधावी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर। व्यासदेव ने कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद तथा *महाभारत* के सारे योद्धाओं की मृत्यु के बाद *महाभारत* का संकलन किया। सर्वप्रथम महाराज परीक्षित के पुत्र महाराज जनमेजय के राज-दरबार में इसे सुनाया गया।

*बृहदश्व*—ये एक प्राचीन मुनि थे, जो महाराज युधिष्ठिर से यदा-कदा मिला करते थे। सर्वप्रथम वे महाराज युधिष्ठिर से काम्यवन में मिले थे। इन्होंने ही महाराज नल की कथा सुनाई थी। एक अन्य बृहदश्व भी थे, जो इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न हुए थे (*महाभारत, वन-पर्व, २०९.४-५*)।

*भरद्वाज*—ये महान सप्तर्षियों में से एक थे और अर्जुन के जन्मोत्सव के समय उपस्थित थे। इस शक्तिशाली ऋषि ने कभी गंगा के तट पर कठिन तपस्या की थी और इनका आश्रम आज भी प्रयाग धाम में विख्यात है। ऐसा कहा जाता है कि जब ये ऋषि गंगा में स्नान कर रहे थे, तो स्वर्ग की एक सुन्दर अप्सरा घृतची से इनकी भेंट हुई। इस कारण से इनका वीर्य स्खलित हुआ, जिसे एक मिट्टी के बर्तन में सुरक्षित रख दिया गया, जिससे द्रोण उत्पन्न हुए। इस तरह द्रोणाचार्य

भरद्वाज मुनि के पुत्र थे। कुछ लोग द्रोण के पिता भरद्वाज को इन महर्षि भरद्वाज से भिन्न मानते हैं। ये ब्रह्मा के महान भक्त थे। ये एक बार द्रोणाचार्य के पास भी गये और इन्होंने उनसे कुरुक्षेत्र-युद्ध बन्द करने का आग्रह किया।

*परशुराम या रेणुकासुत*—ये महर्षि जमदग्नि तथा श्रीमती रेणुका के पुत्र थे। इस तरह वे रेणुका-सुत भी कहलाते हैं। वे ईश्वर के शक्तिशाली अवतारों में से एक थे और उन्होंने क्षत्रिय-वंश का इक्कीस बार संहार किया था। उन्होंने क्षत्रियों के रक्त से अपने पूर्वजों की आत्माओं को प्रसन्न किया। बाद में उन्होंने महेन्द्र पर्वत पर घोर तपस्या की। उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को क्षत्रियों से छीन कर, उसे कश्यप मुनि को दान में दे दिया। परशुराम ने द्रोणाचार्य को धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की, क्योंकि वे ब्राह्मण थे। वे महाराज युधिष्ठिर के राजतिलक के समय उपस्थित थे और अन्य महान ऋषियों के साथ इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे।

परशुराम की आयु इतनी अधिक थी कि वे विभिन्न युगों में राम तथा कृष्ण दोनों से मिले थे। उन्होंने राम से युद्ध किया था, लेकिन कृष्ण को उन्होंने भगवान् के रूप में स्वीकार किया था। उन्होंने जब अर्जुन को कृष्ण के साथ देखा, तो उसकी प्रशंसा भी की थी। जब भीष्म ने विवाह की इच्छुक अम्बा से विवाह करने से इनकार कर दिया था, तो अम्बा परशुराम से मिली थी और उसकी प्रार्थना पर उन्होंने भीष्मदेव से उसे पत्नी-रूप स्वीकार करने के लिये कहा था। अपने गुरु होते हुए भी भीष्मदेव ने उनकी बात नहीं मानी थी। अतः परशुराम ने उनसे युद्ध किया था। दोनों में घमासान युद्ध हुआ और अन्त में परशुराम भीष्म से प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको विश्व का सबसे बड़ा योद्धा होने का वरदान दिया था।

*वसिष्ठ*—ये ब्राह्मणों में सबसे विख्यात ऋषि थे और ब्रह्मर्षि वसिष्ठदेव कहलाते थे। वे *रामायण* तथा *महाभारत* दोनों ही कालों के विख्यात व्यक्तित्व थे। उन्होंने भगवान् श्रीराम का राजतिलक सम्पन्न कराया था और वे कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी उपस्थित थे। वे समस्त उच्च लोकों तथा अधोलोकों में जा सकते थे और उनका नाम हिरण्यकशिपु के इतिहास के साथ भी जुड़ा हुआ है। विश्वामित्र तथा उनके बीच बहुत तनाव उत्पन्न हुआ था, क्योंकि विश्वामित्र उनकी

कामधेनु गाय लेना चाहते थे। जब वसिष्ठ मुनि ने अपनी कामधेनु देने से इनकार कर दिया, तो विश्वामित्र ने इनके सौ पुत्रों को मार डाला। एक पूर्ण ब्राह्मण होने के नाते वे विश्वामित्र के सारे व्यंग्य सहते रहे। एक बार तो विश्वामित्र के प्रताड़नों से ऊबकर उन्होंने आत्महत्या भी करनी चाही, किन्तु उनकेवे ऐसा कर नहीं पाये। वे पर्वत से कूदे, किन्तु वे जिन पत्थरों पर गिरे, वे रुई के ढेर बन गये और वे बच गये। वे समुद्र में भी कूदे, किन्तु लहरों ने उन्हें पुनः किनारे पर ला दिया। वे नदी में भी कुदे, लेकिन नदी ने उन्हें पुनः किनारे पर ला दिया। इस प्रकार उनके आत्महत्या के सारे प्रयास विफल रहे। वे सप्तर्षियों में से एक हैं और ये सुप्रसिद्ध नक्षत्र अरुन्धती के पति हैं।

*इन्द्रप्रमद*—ये एक अन्य विख्यात ऋषि हैं।

*त्रित*—वे प्रजापति गौतम के तीन पुत्रों में से एक थे। पुत्रों में वे तीसरे थे और उनके अन्य भाइयों के नाम एकत और द्वित थे। ये सभी भाई महान ऋषि थे और धर्म के चुस्त पालक थे। कठोर तपस्या के बल पर वे ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए थे। एक बार त्रित मुनि कुएँ में भी गिर गये। वे अनेक यज्ञों के व्यवस्थापक थे और महर्षि के रूप में मृत्यु-शय्या पर पड़े भीष्मदेव को अपना सम्मान प्रदर्शित करने वे भी आये थे। वे वरुणलोक के सप्तर्षियों में से एक थे। वे विश्व के पाश्चात्य देशों के रहनेवाले थे। अतः, सम्भवतः वे यूरोपीय देशों के निवासी थे। उस समय सारा जगत एक ही वैदिक संस्कृति के अधीन था।

*गृत्समद*—स्वर्ग के एक ऋषि। वे स्वर्ग के राजा इन्द्र के घनिष्ठ मित्र थे और वृहस्पति के समान ही महान् थे। महाराज युधिष्ठिर के दरबार में उनका आना जाना रहता था और उस स्थान पर भी वे गये, जहाँ भीष्मदेव ने अपनी अंतिम श्वास ली। कभी-कभी वे महाराज युधिष्ठिर के समक्ष शिवजी का गुणानुवाद किया करते थे। वे वीतहव्य के पुत्र थे और देखने में इन्द्र की आकृति से मिलते-जुलते थे। कुछ बार इन्द्र के शत्रुओं ने उन्हें इन्द्र समझ कर बन्दी बना लिया था। वे ऋग्वेद के विद्वान थे और ब्राह्मणों द्वारा उन्हें अत्यधिक सम्मान दिया जाता था। उन्होंने ब्रह्मचर्य-जीवन बिताया और वे सभी प्रकार से शक्तिसम्पन्न थे।



*असित*—इसी नाम का एक राजा भी हुआ है, लेकिन यहाँ पर असित का नाम असित देवल ऋषि के लिए प्रयुक्त है, जो अपने समय के शक्तिसम्पन्न ऋषि थे। उन्होंने *महाभारत* के पन्द्रह लाख श्लोकों की व्याख्या अपने पिता को सुनाई। वे जनमेजय के नाग-यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। वे अन्य महर्षियों के साथ महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक में भी उपस्थित थे। जब महाराज युधिष्ठिर अञ्जन पर्वत पर थे, तो इन्होंने उन्हें उपदेश भी दिया था। वे शिवजी के भी भक्त थे।

*कक्षीवान्*—गौतम मुनि के पुत्रों में से एक तथा महर्षि चन्द्रकौशिक के पिता थे। वे महाराज युधिष्ठिर की संसद के सदस्य थे।

*अत्रि*—अत्रि मुनि महान ब्राह्मण ऋषि थे और ब्रह्माजी के मानसपुत्र थे। ब्रह्माजी इतने शक्तिमान हैं कि चिन्तन मात्र से पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं। ये पुत्र *मानसपुत्र* कहलाते हैं। अत्रि, ब्रह्माजी के सप्त *मानसपुत्रों* तथा सप्त ब्रह्मर्षियों में से एक थे। उन्हीं के परिवार में महान् प्रचेतागण भी उत्पन्न हुए थे। अत्रि मुनि के दो *क्षत्रिय* पुत्र थे और दोनों ही राजा बने, जिनमें से एक का नाम राजा अर्थम था। इक्कीस प्रजापतियों में इनकी भी गणना की जाती है। इनकी पत्नी का नाम अनसूया था। इन्होंने महाराज परीक्षित के महान् यज्ञों में उनकी सहायता की थी।

*कौशिक*—महाराज युधिष्ठिर के राज-दरबार के स्थायी ऋषि सदस्य थे। ये कभी-कभी भगवान् कृष्ण से भी मिलते रहते थे। इसी नाम के अनेक अन्य ऋषि हुए हैं।

*सुदर्शन*—यह सर्वाधिक शक्तिशाली अस्त्र है, यहाँ तक कि ब्रह्मास्त्र या अन्य विध्वंसक अस्त्रों से भी यह श्रेष्ठ है और इस चक्र को भगवान् ने (विष्णु या कृष्ण ने) अपने अस्त्र के रूप में स्वीकार किया था। किन्हीं-किन्हीं वैदिक ग्रंथों में कहा गया है कि अग्निदेव ने यह अस्त्र श्रीकृष्ण को प्रदान किया था, लेकिन सच्चाई तो यह है कि भगवान् इस अस्त्र को निरन्तर धारण किये रहते हैं। अग्निदेव ने यह अस्त्र श्रीकृष्ण को उसी प्रकार अर्पित किया, जिस प्रकार महाराज रुक्म ने उन्हें अपनी पुत्री रुक्मिणी प्रदान की थी। भगवान् अपने भक्तों की ऐसी भेंटें स्वीकार करते रहते हैं, यद्यपि ये उन्हीं की नित्य सम्पत्ति हैं। *महाभारत* के *आदिपर्व* में इस सुदर्शन अस्त्र का विस्तृत वर्णन मिलता है। भगवान् कृष्ण ने इसका उपयोग अपने प्रतिद्वंद्वी शिशुपाल के वध के लिये

किया। उन्होंने इसी के द्वारा शाल्व का भी वध किया और कभी कभी उन्होंने चाहा था कि अर्जुन अपने शत्रुओं का संहार करने के लिये इस चक्र का प्रयोग करे ( महाभारत, विराट पर्व ५६.३ )।

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।

शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ॥ ८ ॥

### शब्दार्थ

अन्ये—अन्य कई; च—भी; मुनयः—मुनिगण; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; ब्रह्मरात—शुकदेव गोस्वामी; आदयः—इत्यादि; अमलाः—पूर्ण रूप से शुद्ध; शिष्यैः—शिष्यों के द्वारा; उपेताः—साथ-साथ; आजग्मुः—आये; कश्यप—कश्यप; आङ्गिरस—आंगिरस; आदयः—आदि।

तथा शुकदेव गोस्वामी एवं अन्य पवित्रात्माएँ, कश्यप, आंगिरस इत्यादि अपने-अपने शिष्यों के साथ वहाँ पर आये।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी (ब्रह्मरात) : ये व्यासदेव के प्रख्यात पुत्र तथा शिष्य थे, जिन्हें उन्होंने सर्वप्रथम महाभारत तथा उसके बाद श्रीमद्भागवत की शिक्षा दी। शुकदेव गोस्वामी ने गन्धर्वों, यक्षों तथा राक्षसों की सभा में महाभारत के चौदह लाख श्लोक सुनाये थे और श्रीमद्भागवत सर्वप्रथम महाराज परीक्षित को सुनाया। उन्होंने अपने पिता से सारे वैदिक साहित्य का पूरी तरह अध्ययन किया। इस प्रकार धर्म-सम्बन्धी अपने विस्तृत ज्ञान के कारण वे पूर्ण पवित्रात्मा थे। महाभारत के सभापर्व (४.११) से ज्ञात होता है कि ये महाराज युधिष्ठिर की राजसभा में तथा महाराज परीक्षित के उपवास के समय भी उपस्थित हुए थे। श्री व्यासदेव के प्रामाणिक शिष्य होने के नाते ये अपने पिता से धार्मिक सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिक मूल्यों के विषय में जिज्ञासाएँ करते रहते थे। इनके पिता ने इन्हें योग-पद्धति सिखलाई, जिससे वैकुण्ठ प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने कर्म तथा ज्ञान का अन्तर, आत्म-साक्षात्कार करने के साधन, चारों आश्रम (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास आश्रम), पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दिव्य पद, उनके साक्षात् दर्शन करने की विधि, ज्ञान प्राप्त करनेवाला सुपात्र, पाँच तत्त्व, बुद्धि की अद्वितीय स्थिति, प्रकृति की चेतना तथा जीव, स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लक्षण, शरीर के सिद्धान्त, प्रकृति के गुणों के लक्षण, कल्पतरु तथा मनोवैज्ञानिक कार्यों के विषय में शिक्षा दी। कभी-कभी

वे अपने पिता तथा नारदजी की अनुमति से सूर्यलोक भी जाया करते थे। *महाभारत* के *शान्ति-पर्व* (३३२) में उनकी अन्तरिक्ष-यात्रा का विवरण प्राप्त है। अन्त में उन्हें परम धाम की प्राप्ति हुई। वे अरण्य, अरुणिसुत, वैयासकि तथा व्यासात्मज इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं।

*कश्यप*—वे मरीचि के पुत्र, प्रजापतियों में से एक तथा प्रजापति दक्ष के दामाद थे। वे उस विराट गरुड़ पक्षी के पिता हैं, जिसे खाने के लिए बड़े-बड़े हाथियों तथा कछुओं को परोसा जाता था। उन्होंने प्रजापति दक्ष की तेरह पुत्रियों से विवाह किया। उनके नाम थे—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्ठा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा तथा तिमि। इन पत्नियों से उनके अनेक पुत्र हुए, जो देवता तथा असुर दोनों थे। उनकी प्रथम पत्नी अदिति से बारहों आदित्य उत्पन्न हुए थे, जिनमें से वामन ईश्वर के अवतार हैं। ये कश्यप मुनि अर्जुन के जन्म के समय भी विद्यमान थे। परशुराम ने इन्हें सारा विश्व भेंट किया और बाद में इन्होंने परशुराम को विश्व के बाहर जाने की आज्ञा दी। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमि था। ये ब्रह्माण्ड की उत्तरी दिशा में निवास करते हैं।

*आङ्गिरस*—ये महर्षि अंगिरा के पुत्र हैं और देवताओं के पुरोहित, बृहस्पति नाम से विख्यात हैं। कहा जाता है कि द्रोणाचार्य इनके अंश-अवतार थे। शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे और बृहस्पति ने उन्हें ललकारा था। उनके पुत्र कच ने सर्वप्रथम भरद्वाज मुनि को अग्न्यास्त्र प्रदान किया। उन्हें अपनी पत्नी चन्द्रमासी से, जो कि एक विख्यात नक्षत्र है, अग्नि देव के समान छह पुत्र प्राप्त हुए। वे अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते थे, अतएव ब्रह्मलोक तथा इन्द्रलोक में भी जा सकते थे। उन्होंने स्वर्ग के राजा इन्द्र को असुरों पर विजय प्राप्त पाने के लिए सलाह दी। एक बार उन्होंने इन्द्र को श्राप दिया, जिससे उसे पृथ्वी पर शूकर बनकर आना पड़ा। वह स्वर्ग वापस जाने से अनिच्छा व्यक्त करने लगे। माया की आकर्षण शक्ति ऐसी होती है कि शूकर भी, धरा के घर-द्वार को छोड़ना नहीं चाहता, भले ही बदले में स्वर्ग मिलता हो। वे विभिन्न लोकवासियों के धर्मोपदेशक थे।

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः ।  
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

तान्—उन सभी; समेतान्—समवेत; महा-भागान्—अत्यन्त शक्तिशाली पुरुषों को; उपलभ्य—पाकर; वसु-उत्तमः—वसुओं में श्रेष्ठ ( भीष्मदेव ने ); पूजयाम् आस—स्वागत किया; धर्म-ज्ञः—धर्म का ज्ञाता; देश—स्थान; काल—समय; विभाग-वित्—जो देश-काल के अनुसार अपने को समंजित कर लेता है ।

आठ वसुओं में सर्वश्रेष्ठ भीष्मदेव ने वहाँ पर एकत्र हुए समस्त महान् तथा शक्तिसम्पन्न ऋषियों का स्वागत किया, क्योंकि भीष्मदेव को देश तथा काल के अनुसार समस्त धार्मिक नियमों की भलीभाँति जानकारी थी ।

तात्पर्य : पटु धर्मज्ञ भलीभाँति जानते हैं कि किस प्रकार देश-काल के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों को समंजित करना चाहिए। सारे महान् आचार्यों अथवा धर्मोपदेशकों अथवा विश्व के सुधारकों ने देश-काल के अनुसार धार्मिक नियमों को समंजित करके ही अपने उद्देश्य को पूरा किया। विश्व के विभिन्न भागों में तरह-तरह की जलवायु तथा परिस्थितियाँ हैं और यदि किसी को भगवान् के संदेश का उपदेश करना है, तो उसे देश-काल के अनुसार बातें समंजित करने में पटु होना चाहिए। भीष्मदेव इस भक्ति सम्प्रदाय का उपदेश करनेवाले बारह महाजनों में से एक थे, अतएव वे ब्रह्माण्ड के कोने-कोने से आये शक्तिशाली ऋषियों का स्वागत तथा सम्मान अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े कर सकते थे। निस्संदेह वे उस समय उनका स्वागत-सम्मान स्वयं उठकर कर पाने में शरीर से असमर्थ थे, क्योंकि उस समय वे न तो घर पर थे न सामान्य रूप से स्वस्थ अवस्था में थे। लेकिन वे अपने मस्तिष्क के सुचारु रूप से कार्य करने से बिलकुल चुस्त थे और वे हार्दिक मृदु वचन बोल सके। इसीलिए सभी आगन्तुकों का ठीक से सत्कार हो पाया। मनुष्य मन से, वाणी से तथा कर्म से अपना कर्तव्य पूरा कर सकता है। वे भलीभाँति जानते थे कि उनका किस तरह समुचित स्थान पर उपयोग करना चाहिए। अतएव शारीरिक रूप से असमर्थ होने पर भी उन्हें लोगों का सत्कार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।

हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

कृष्णम्—भगवान् श्रीकृष्ण को; च—भी; तत्—उनका; प्रभाव-ज्ञः—महिमा को जाननेवाले ( भीष्म ); आसीनम्—बैठे हुए; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; हृदि-स्थम्—हृदय में आसीन; पूजयाम् आस—पूजा; मायया—अन्तरंगा शक्ति के द्वारा; उपात्त—प्रकट; विग्रहम्—स्वरूप को।

भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक के हृदय में आसीन हैं, तो भी वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से अपना दिव्य रूप प्रकट करते हैं। ऐसे भगवान् साक्षात् भीष्मदेव के समक्ष बैठे हुए थे। और चूँकि भीष्मदेव उनकी महिमा से परिचित थे, अतएव उन्होंने उनकी विधिवत् पूजा की।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन प्रत्येक स्थान में उनकी उपस्थिति द्वारा होता है। वे अपने नित्य धाम गोलोक वृन्दावन में सदैव उपस्थित रहते हैं, तो भी वे जन-जन के हृदय में, यहाँ तक कि प्रत्येक अदृश्य परमाणु के भीतर भी स्थित रहते हैं। जब वे इस भौतिक जगत में अपने नित्य दिव्य रूप को व्यक्त करते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से ऐसा करते हैं। बहिरंगा शक्ति या माया का इस नित्य रूप से कोई सरोकार नहीं होता। ये सारी बातें श्री भीष्मदेव को ज्ञात थीं, अतएव उन्होंने तदनुसार ही उनकी पूजा की।

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् ।

अभ्याचष्टानुरागाश्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

पाण्डु—महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों के दिवंगत पिता के; पुत्रान्—पुत्रों को; उपासीनान्—पास ही शान्त बैठे हुए; प्रश्रय—अभिभूत; प्रेम—प्रेमभाव में; सङ्गतान्—एकत्र हुए; अभ्याचष्ट—बधाई दी; अनुराग—प्रेमपूर्वक; अश्रैः—आनन्दाश्रुओं द्वारा; अन्धीभूतेन—आप्लावित; चक्षुषा—नेत्रों से।

पास ही महाराज पाण्डु के सारे पुत्र शान्त बैठे थे और अपने मरणासन्न पितामह के प्रेम से अभिभूत थे। यह देखकर भीष्मदेव ने उन्हें भावपूर्ण बधाई दी। उनके नेत्रों में आनन्दाश्रु थे, क्योंकि वे प्रेम तथा स्नेह से आप्लावित हो गये थे।

तात्पर्य : जब महाराज पाण्डु का निधन हुआ, तो उनके सारे पुत्र छोटे बालक थे। अतएव स्वाभाविक था कि वे राज-परिवार के ज्येष्ठजनों के, विशेष रूप से भीष्मदेव के, लाड़-प्यार में पले थे। बाद में जब पाण्डव बड़े हो गये, तो वे धूर्त दुर्योधन तथा उसकी टोली द्वारा ठगे गये।

यद्यपि भीष्मदेव जानते थे कि पाण्डव निर्दोष थे और उन्हें व्यर्थ ही कष्ट दिये जा रहे थे, फिर भी राजनीतिक कारणों से वे पाण्डवों का पक्ष नहीं ले पा रहे थे। अपने अन्तिम समय में जब भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर समेत अपने यशस्वी पौत्रों को अपनी बगल में बैठे हुए देखा, तो महायोद्धा पितामह अपने प्रेमाश्रुओं को रोक न सके, उनकी आँखों से अश्रु स्वतः छलछला रहे थे। उन्होंने अपने अत्यंत पवित्र पौत्रों द्वारा भोगे गये महान कष्टों का स्मरण किया। निश्चय ही वे सर्वाधिक संतुष्ट व्यक्ति थे, क्योंकि दुर्योधन के स्थान पर युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठने जा रहे थे। इसीलिए उन्होंने उन सबों को बधाई दी।

अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः ।

जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

अहो—अहो; कष्टम्—कितना कष्ट; अहो—ओह; अन्याय्यम्—कितना अन्याय; यत्—क्योंकि; यूयम्—तुम सभी; धर्म-नन्दनाः—साक्षात् धर्म के पुत्र; जीवितुम्—जीवित रहने के लिए; न—कभी नहीं; अर्हथ—योग्य हो; क्लिष्टम्—कष्ट; विप्र—ब्राह्मण; धर्म—धर्म; अच्युत—ईश्वर द्वारा; आश्रयाः—सुरक्षित होकर।

भीष्मदेव ने कहा : ओह, तुम लोगों ने, साक्षात् धर्म के पुत्र होते हुए भी, कितनी यातनाएँ तथा कितना अन्याय सहा है। उन कष्टों के अन्तर्गत तुम सबको जीवित रहने की आशा न थी, फिर भी ब्राह्मणों, ईश्वर तथा धर्म ने तुम्हारी रक्षा की है।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र युद्ध के महान नरसंहार से अत्यन्त विचलित थे। भीष्मदेव यह समझ गये। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम महाराज युधिष्ठिर की घोर विपत्तियों का उल्लेख किया। वे अन्याय के कारण ही इस कठिनाई में पड़े थे और कुरुक्षेत्र का युद्ध इसी अन्याय के विरोध में लड़ा गया था। इसीलिए उन्हें इस घोर नरसंहार के लिए शोक नहीं करना चाहिए था। वे पाण्डवों को विशेष तौर पर यह बताना चाह रहे थे कि वे लोग सदा ही ब्राह्मणों, भगवान् तथा धर्म द्वारा रक्षित होते रहे हैं। अतएव जब तक वे इन तीनों महत्त्वपूर्ण साधनों के द्वारा सुरक्षित हैं, तब तक निराश होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार भीष्मदेव ने महाराज को उनकी निराशा मिटाने के लिए प्रोत्साहित किया। जब तक कोई मनुष्य भगवान् की इच्छा के साथ

पूरा तालमेल बनाए रखता है, प्रामाणिक ब्राह्मणों तथा वैष्णवों द्वारा निर्देशित होता है और धार्मिक सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करता है, तब तक उसके निराश होने का कोई कारण नहीं है, भले ही जीवन की परिस्थितियाँ कितनी ही विषम क्यों न हों। इस परम्परा में एक महान् सत्ता होने के नाते भीष्मदेव पाण्डवों को यह बात समझाना चाहते थे।

संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः ।

युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

संस्थिते—मृत्यु के बाद; अति-रथे—महान् सेनानायक; पाण्डौ—पाण्डु की; पृथा—कुन्ती; बाल-प्रजा—छोटे-छोटे बच्चों वाले; वधूः—मेरी पुत्रवधू; युष्मत्-कृते—तुम्हारे कारण; बहून्—अनेक; क्लेशान्—कष्टों को; प्राप्ता—भोगकर; तोक-वती—बड़े-बड़े बालकों के होने पर भी; मुहुः—निरन्तर।

जहाँ तक मेरी पुत्रवधू कुन्ती का सम्बन्ध है, वह महान् सेनापति पाण्डु की मृत्यु होने पर अनेक सारे बच्चों के साथ विधवा हो गई और इस के कारण उसने घोर कष्ट सहे। और अब जब तुम लोग बड़े हो गये हो, तो भी वह तुम्हारे कर्मों के कारण काफी कष्ट उठा रही है।

तात्पर्य : कुन्तीदेवी के कष्टों पर दुगुना शोक प्रकट किया जा रहा है। कम आयु में विधवा हो जाने तथा राज-परिवार में अपने छोटे छोटे बच्चों के पालन-पोषण करने में उसे अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा। और जब उसके बच्चे बड़े हो गये, तो उनकी करनी से उसे कष्ट उठाना पड़ रहा था। अतएव उसके कष्ट जैसे के तैसे बने हुए थे। इसका अर्थ यह हुआ कि विधाता के द्वारा कष्ट झेलना उसके भाग्य में लिखा हुआ था और विचलित हुए बिना इसको सहना पड़ा।

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम् ।

सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ॥ १४ ॥

### शब्दार्थ

सर्वम्—यह सब; काल-कृतम्—काल द्वारा किया गया; मन्ये—मैं सोचता हूँ; भवताम् च—तुम्हारे लिए भी; यत्—जो भी; अप्रियम्—अप्रिय; स-पालः—शासकों समेत; यत्-वशे—उस काल के वशीभूत; लोकः—प्रत्येक लोक में सभी लोग; वायोः—वायु ले जाती है; इव—सदृश; घन-आवलिः—बादलों का समूह।

मेरे विचार से यह सब प्रबल काल के कारण हुआ है, जिसके वशीभूत होकर हर कोई व्यक्ति प्रत्येक लोक में मारा मारा फिरता है, जिस प्रकार वायु द्वारा बादल इधर से उधर ले जाये जाते हैं।

**तात्पर्य :** इस ब्रह्माण्ड के भीतर सारे अन्तरिक्ष में काल का नियन्त्रण उसी तरह है, जिस प्रकार सारे लोकों में उसका नियंत्रण है। सारे बड़े-बड़े ग्रह, जिनमें सूर्य भी सम्मिलित है, वायु के बल के द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित हैं, जिस प्रकार वायु के वेग से बादल इधर से उधर ले जाये जाते हैं। इसी प्रकार अपरिहार्य काल वायु तथा अन्य तत्त्वों की क्रिया को भी नियन्त्रित करनेवाला है। अतएव प्रत्येक वस्तु सर्वोपरि काल द्वारा नियन्त्रित है, जो इस भौतिक जगत के अन्दर भगवान् का सबसे शक्तिशाली प्रतिनिधि है। अतएव युधिष्ठिर को इस काल की अकल्पनीय क्रिया से दुखी नहीं होना चाहिए। मनुष्य जब तक इस भौतिक संसार की स्थितियों में रहता है, तब तक उसे काल की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को सहन करना होता है। युधिष्ठिर को यह नहीं सोचना चाहिए कि उन्होंने पिछले जन्म में पाप किया था, जिसका परिणाम उन्हें भोगना पड़ रहा है। बड़े-से-बड़े पुण्यात्मा को भी भौतिक प्रकृति की दशाओं को भोगना पड़ता है। लेकिन पुण्यात्मा भगवान् के प्रति श्रद्धावान होता है, क्योंकि वह प्रामाणिक ब्राह्मण तथा धर्मात्मा वैष्णव द्वारा निर्देशित होता है। इन तीन पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तों को ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। मनुष्य को शाश्वत काल की चालों से विचलित नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के महान नियन्ता, ब्रह्माजी भी काल के वश में हैं, अतएव धार्मिक सिद्धान्तों का असली पालक होने के बावजूद भी मनुष्य को काल द्वारा नियन्त्रित होने के कारण क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।

कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥ १५ ॥

### शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; धर्म-सुतः—धर्मराज का पुत्र; राजा—राजा; गदा-पाणिः—हाथ में शक्तिशाली गदा धारण करनेवाला; वृकोदरः—भीम; कृष्णः—अर्जुन; अस्त्री—अस्त्र धारण करनेवाला; गाण्डिवम्—गाण्डीव को; चापम्—धनुष; सुहृत्—शुभेच्छु; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; ततः—उससे; विपत्—विपत्ति।



ओह, अपरिहार्य काल का प्रभाव कितना आश्चर्यजनक होता है, यह अपरिवर्तनीय है अन्यथा धर्मराज के पुत्र युधिष्ठिर, गदाधारी भीम तथा गाण्डीव अस्त्र धारण करनेवाले बलशाली महान् धनुर्धर अर्जुन एवं सबके ऊपर पाण्डवों के प्रत्यक्ष हितैषी कृष्ण के होते हुए यह विपत्ति क्यों आती ?

तात्पर्य : जहाँ तक भौतिक या आध्यात्मिक साधनों की बात थी, पाण्डवों के लिए इनकी कमी न थी। भौतिक दृष्टि से वे अच्छी तरह से सुसज्जित थे, क्योंकि दो महान योद्धा अर्थात् भीम तथा अर्जुन उनके साथ थे। आध्यात्मिक दृष्टि से, राजा स्वयं धर्म के प्रतीक थे और इन सबके ऊपर, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हितैषी के रूप में उनके लिए स्वयं चिन्ता करते थे। फिर भी पाण्डवों पर इतनी विपत्तियाँ आईं। पुण्य कर्म की शक्ति, व्यक्तित्वों की शक्ति, कुशल प्रबन्ध-क्षमता तथा भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष अध्यक्षता में अस्त्र-शक्ति होने पर भी पाण्डवों को अनेक विपत्तियाँ देखनी पड़ीं, जिन्हें अपरिहार्य काल का प्रभाव ही कहा जा सकता है। काल साक्षात् भगवान् से अभिन्न है, अतएव काल का प्रभाव भगवान् की अकथ इच्छा का सूचक है। जब कोई बात किसी मनुष्य के वश के परे हो, तो पछताने से कोई लाभ नहीं।

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम् ।

यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि ॥ १६ ॥

### शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—उसका; कर्हिचित्—कोई भी; राजन्—हे राजा; पुमान्—कोई; वेद—जानता है; विधित्सितम्—योजना; यत्—जो; विजिज्ञासया—जिज्ञासा; युक्ता:—लगा हुआ; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त; कवयः—बड़े-बड़े विचारक; अपि—भी; हि—निश्चय ही।

हे राजन् भगवान् ( श्रीकृष्ण ) की योजना को कोई नहीं जान सकता। यद्यपि बड़े-बड़े चिन्तक उनके विषय में जिज्ञासा करते हैं, लेकिन वे मोहित हो जाते हैं।

तात्पर्य : परम विशेषज्ञ ( बारह प्राधिकृत पुरुषों में से एक ) भीष्म के द्वारा विगत पापों तथा उनसे होने वाले फलों के द्वारा महाराज युधिष्ठिर के मोह का पूरी तरह से निषेध हो जाता है। भीष्म महाराज युधिष्ठिर को जोर देकर बताना चाह रहे थे कि अनादि काल से शिव तथा ब्रह्मा

जैसे देवातओं-समेत कोई भी भगवान् की वास्तविक योजना को नहीं जान पाया है। तो भला हम उसके विषय में कैसे जान सकते हैं? इसके विषय में जिज्ञासा करना भी व्यर्थ ही है। यहाँ तक कि मुनियों द्वारा गहन दार्शनिक जिज्ञासाएँ भी भगवान् की योजना को ठीक से निश्चित नहीं कर पातीं, अतएव सर्वोत्तम नीति है कि बिना तर्क के भगवान् के आदेशों का सहज भाव से पालन किया जाय। पाण्डवों के कष्ट उनके पूर्व कर्मों के कारण नहीं थे। भगवान् की योजना तो धर्म का राज्य स्थापित करने की थी। अतएव पुण्य की विजय स्थापित करने के लिए उनके ही भक्तों को कुछ देर के लिए कष्ट उठाने पड़े। भीष्मदेव धर्म की विजय देखकर निश्चय ही संतुष्ट थे और राजा युधिष्ठिर को सिंहासनारूढ़ देखकर प्रसन्न थे, यद्यपि वे स्वयं उनके विरुद्ध लड़े थे। भीष्म जैसे महान योद्धा भी कुरुक्षेत्र के युद्ध को नहीं जीत सके, क्योंकि भगवान् यह दिखाना चाहते थे कि पाप कभी पुण्य को नहीं जीत सकता, चाहे कोई कुछ भी करना चाहे। भीष्मदेव भगवान् के महान भक्त थे, लेकिन उन्हें भगवान् की इच्छानुसार पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा, क्योंकि भगवान् यह दिखलाना चाह रहे थे कि गलत पक्ष की ओर से लड़ने पर भीष्म जैसा योद्धा भी जीत नहीं सकता।

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ ।

तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ॥ १७ ॥

**शब्दार्थ**

तस्मात्—अतएव; इदम्—यह; दैव-तन्त्रम्—भाग्य का वशीकरण; व्यवस्य—निश्चित करके; भरत-ऋषभ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ; तस्य—उसके द्वारा; अनुविहितः—इच्छित; अनाथाः—असहाय; नाथ—हे स्वामी; पाहि—रक्षा करो; प्रजाः—जनता की; प्रभो—हे प्रभु।

अतएव हे भरतवंश में श्रेष्ठ (युधिष्ठिर), मैं मानता हूँ कि यह सब भगवान् की योजना के अन्तर्गत है। तुम भगवान् की अचिन्त्य योजना को स्वीकार करो और उसका पालन करो। अब तुम नियुक्त किए गये शासनाध्यक्ष हो, अतएव हे महाराज, आपको अब उन लोगों की देखभाल करनी चाहिए जो असहाय हो चुके हैं।

**तात्पर्य :** एक कहावत है कि गृहस्वामिनी अपनी पुत्री को शिक्षा देते हुए पुत्रवधू को सिखाती है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्त को शिक्षा देकर संसार को शिक्षा देते हैं। भक्त को भगवान् से कुछ नया नहीं सीखना होता, क्योंकि भगवान् निष्ठावान भक्त को उसके भीतर से शिक्षा देते हैं। अतएव, जब भी भक्त को शिक्षा देने का प्रदर्शन किया जाता है, जैसा कि *भगवद्गीता* के उपदेश में हुआ है, तो यह कम बुद्धिमान मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए होता है। अतएव भक्त का धर्म है कि वह भगवान् द्वारा प्रदत्त विपत्तियों को आशीर्वाद मानकर सह ले। भीष्मदेव ने पाण्डवों को सलाह दी कि वे बिना हिचक के शासनभार स्वीकार कर लें। कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण बेचारी प्रजा असुरक्षित थी और वह महाराज युधिष्ठिर द्वारा राज्य ग्रहण करने की प्रतीक्षा कर रही थी। भगवान् का शुद्ध भक्त सारी विपत्तियों को भगवान् का अनुग्रह मानता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव भक्त तथा भगवान् में कोई लौकिक अन्तर नहीं है।

एष वै भगवान्साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् ।

मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥ १८ ॥

### शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निश्चय ही; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—मूल; आद्यः—प्रथम; नारायणः—परमेश्वर ( जल में शयन करनेवाले ); पुमान्—परम भोक्ता; मोहयन्—मोहित करनेवाला; मायया—स्वसर्जित शक्ति द्वारा; लोकम्—ग्रहों को; गूढः—अकल्पनीय; चरति—विचरण करता है; वृष्णिषु—वृष्णिकुल में।

ये श्रीकृष्ण अकल्पनीय आदि भगवान् ही हैं। ये प्रथम नारायण अर्थात् परम भोक्ता हैं।

लेकिन ये राजा वृष्णि के वंशजों में हमारी ही तरह विचरण कर रहे हैं और हमें स्व-सृजित शक्ति के द्वारा मोहग्रस्त कर रहे हैं।

**तात्पर्य :** ज्ञान प्राप्त करने की वैदिक पद्धति निगमन की विधि है। वैदिक ज्ञान पूर्ण रूप से अधिकारियों के शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त किया जाता है। ऐसा ज्ञान कभी मतान्ध नहीं होता, जैसाकि अल्पज्ञों की गलत सोच है। पिता की पहचान की पुष्टि करने की अधिकारिणी माता होती है। ऐसे गुह्य ज्ञान की अधिकारिणी वही होती है। अतएव प्रामाणिक सत्ता का होना रूढ़िमूलक नहीं होता। *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय (४.२) में इस सत्य की पुष्टि की गई है और बताया

गया है कि विद्या की सम्यक् पद्धति उसे प्राधिकारी से प्राप्त करने में है। इसी पद्धति को विश्वव्यापी सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, लेकिन व्यर्थ तर्क करनेवाला ही इसके विपरीत बोलता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक अन्तरिक्ष यान आकाश में उड़ते हैं और जब वैज्ञानिक यह कहते हैं कि वे चन्द्रमा के दूसरी ओर यात्रा करते हैं, तो लोग इन कथाओं को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उन्होंने आधुनिक विज्ञानियों को प्रमाण (अधिकारी) के रूप में स्वीकार कर लिया है। अधिकारी जो कुछ बोलते हैं, सामान्य जन उस पर विश्वास कर लेते हैं। लेकिन वैदिक सत्यों के विषय में उन्हें विश्वास न करने की शिक्षा दी जाती है। यदि वे उसे स्वीकार करते भी हैं, तो वे उसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति वैदिक ज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति करना चाहता है, लेकिन मूर्खतावश वह इससे इनकार करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि गुमराह व्यक्ति जिस एक प्रमाण पर विश्वास कर सकता है, वह है विज्ञानी, किन्तु वह वेदों के प्रमाण को अस्वीकार कर देता है। इसी का परिणाम यह है कि लोगों का पतन हुआ है।

यहाँ पर एक अधिकारी व्यक्ति श्रीकृष्ण को आदि भगवान् तथा प्रथम नारायण बताया गया है। आचार्य शंकर जैसे निर्विशेषवादी ने भी *भगवद्गीता* के अपने भाष्य के प्रारम्भ में कहा है कि भगवान् नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं। \*यह ब्रह्माण्ड एक भौतिक सृष्टि है, किन्तु नारायण ऐसी भौतिक साज-सज्जा से परे हैं।

footnote starts here

*नारायणः परोऽव्यक्ताद् अण्डमव्यक्तसम्भवम् ।*

*अण्डस्यान्तस्त्वमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥*

*( भगवद्गीता, शंकरभाष्य )*

footnote ends here

भीष्मदेव उन बारह *महाजनों* में से एक हैं, जो दिव्य ज्ञान के सिद्धान्तों को जानते हैं। श्रीकृष्ण को आदि भगवान् कहे जाने की उनके द्वारा की गई पुष्टि की निर्विशेषवादी शंकर के द्वारा भी परिपुष्टि हुई है। अन्य सारे आचार्यों ने भी इस कथन की पुष्टि की है। अतएव श्रीकृष्ण को आदि

भगवान् के रूप में स्वीकार न करने की कोई सम्भावना रह जाती है। भीष्म-देव कहते हैं कि वे प्रथम नारायण हैं। इसकी पुष्टि *भागवत* (१०.१४.१४) में ब्रह्माजी द्वारा भी की गई है। कृष्ण प्रथम नारायण हैं। आध्यात्मिक जगत् (वैकुण्ठ) में असंख्य नारायण हैं और वे सभी एक ही भगवान् हैं और ये आदि भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्ण विस्तार माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का प्रथम विस्तार बलदेव के रूप में होता है और बलदेव अनेक अन्य रूपों में, यथा—संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव, नारायण, पुरुष, राम तथा नृसिंह में—विस्तार करते हैं। ये सारे विस्तार एक ही *विष्णु-तत्त्व* हैं और श्रीकृष्ण इन समस्त पूर्ण अंशों के आदि स्रोत हैं। अतएव वे प्रत्यक्ष भगवान् हैं। वे भौतिक जगत् के सृष्टा हैं और नारायण रूप में विख्यात समस्त वैकुण्ठ ग्रहों के अधिष्ठाता देव हैं। अतएव मनुष्यों के बीच में उनका विचरण करना एक अन्य प्रकार का मोह है। अतः *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि मूर्ख लोग उनकी गतिविधियों की जटिलताओं को जाने बिना उन्हें मनुष्यों में से एक मान बैठते हैं।

श्रीकृष्ण के विषय में मोह का कारण उनकी अन्तरंगा तथा बहिरंगा नाम की दो शक्तियों का, तटस्था नामक एक तीसरी शक्ति पर, प्रभाव है। जीव उनकी तटस्था शक्ति के विस्तार (अंश) हैं। अतएव वे कभी अन्तरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होते हैं, तो कभी बहिरंगा शक्ति द्वारा। अपनी अन्तरंगा शक्ति के मोह से श्रीकृष्ण असंख्य नारायणों में अपना विस्तार करते हैं और दिव्य लोक में जीवों से दिव्य सेवा का आदान-प्रदान स्वीकार करते हैं। और अपनी बहिरंगा शक्ति के विस्तार से वे भौतिक जगत् में मनुष्यों, पशुओं या देवताओं के मध्य विभिन्न योनियों में जीवों के साथ विस्मृत सम्बन्ध की पुनः स्थापना के लिए अवतरित होते हैं। किन्तु भीष्म जैसे महाजन भगवत्कृपा से उनके मोह से बच जाते हैं।

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः ।  
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप ॥ १९ ॥

## शब्दार्थ

अस्य—उनकी; अनुभावम्—महिमा; भगवान्—सर्वशक्तिमान्; वेद—जानते हैं; गुह्य-तमम्—अत्यन्त गोपनीय; शिवः—शिवजी; देव-ऋषिः—देवताओं में महान ऋषि; नारदः—नारद; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; कपिलः—कपिल; नृप—हे राजा।

हे राजन्, शिवजी, देवर्षि नारद तथा भगवान् के अवतार कपिल—ये सभी प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा भगवान् की महिमा के विषय में अत्यन्त गोपनीय जानकारी रखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के सारे शुद्ध भक्त भाव हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति हैं, जो दिव्य प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् की महिमा को जानते हैं। जिस प्रकार भगवान् के पूर्ण रूप के असंख्य विस्तार होते हैं, उसी प्रकार भगवान् के असंख्य शुद्ध भक्त भी हैं जो विभिन्न रसों में सेवा का आदान-प्रदान करने में लगे रहते हैं। सामान्य रूप से भगवान् के बारह महान् भक्त (महाजन) हैं, जिनके नाम हैं—ब्रह्मा, नारद, शिव, कुमारगण, कपिल, मनु, प्रह्लाद, भीष्म, जनक, शुकदेव गोस्वामी, बलि महाराज तथा यमराज। यद्यपि भीष्मदेव इनमें से एक हैं, लेकिन उन्होंने केवल तीन मुख्य नामों का उल्लेख किया है, जो भगवान् की महिमा से अवगत हैं। आधुनिक युग में महान आचार्य श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि अनुभाव या भगवान् की महिमा, सर्वप्रथम आनन्दविभोर भक्त द्वारा अनुभव की जाती है, जो प्रस्वेद, कम्पन, रुदन, शारीरिक उद्गारों आदि के लक्षणों द्वारा प्रकट होती है और भगवान् की महिमा के लगातार ज्ञान से इन अनुभावों में वृद्धि होती है। भावों के ऐसे ज्ञान का आदान-प्रदान यशोदा तथा भगवान् के मध्य (भगवान् को रस्सी से बाँधना) तथा अर्जुन के साथ प्रेम के आदान-प्रदान के रूप में भगवान् द्वारा रथ हाँकने से होता है। भगवान् की इन महिमाएँ अपने भक्तों के समक्ष उनके अधीनस्थ होकर प्रकट की जाती हैं और भगवान् की महिमा का यह एक और लक्षण है। शुकदेव गोस्वामी तथा कुमारगण, दिव्य पद पर स्थित होकर भी, भाव के अन्य गुण द्वारा परिवर्तित होकर भगवान् के शुद्ध भक्त बन गये। भगवान् तथा भक्तों के बीच दिव्य भाव का आदान-प्रदान तब भी होता है, जब भगवान् भक्तों पर विपत्ति ढाते हैं। भगवान् कहते हैं, “मैं मेरे भक्त को संकट में डालता हूँ और इस प्रकार मेरे साथ दिव्य भाव के आदान-प्रदान से भक्त अधिक शुद्ध होता है।” भक्त को भौतिक विपत्तियों में डालकर उसे मायामय भौतिक सम्बन्धों से उद्धार करने की आवश्यकता होती है। ये भौतिक

सम्बन्ध भौतिक भोग के आदान-प्रदान पर आधारित हैं और यह भोग भौतिक साधनों पर निर्भर करता है। अतएव जब भगवान् इन भौतिक साधनों को छीन लेते हैं, तब भक्त भगवान् के प्रेमभाव की ओर शत-प्रतिशत आकृष्ट होता है। इस प्रकार भगवान् पतितात्माओं को संसार के कीचड़ से बाहर निकालते हैं। भगवान् द्वारा भक्तों को प्रदत्त विपत्तियाँ पापकर्मों से उत्पन्न विपत्तियों से भिन्न होती हैं। भगवान् की ये सारी महिमाएँ ब्रह्मा, शिव, नारद, कपिल, कुमार तथा भीष्म जैसे महाजनों को ज्ञात रहती हैं, जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है और मनुष्य उनकी कृपा से ही इन्हें ग्रहण करने में समर्थ होता है।

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।

अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥ २० ॥

**शब्दार्थ**

यम्—व्यक्ति; मन्यसे—सोचते हो; मातुलेयम्—ममेरे भाई को; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; मित्रम्—मित्र; सुहृत्-तमम्—अत्यधिक हितैषी; अकरोः—किया गया; सचिवम्—मन्त्री; दूतम्—दूत; सौहृदात्—शुभ कामना से; अथ—तत्पश्चात्; सारथिम्—सारथी।

हे राजन्, तुमने अज्ञानवश ही जिस व्यक्ति को अपना ममेरा भाई, अपना अत्यन्त प्रिय मित्र, शुभैषी, मन्त्री, दूत, उपकारी इत्यादि माना है, वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण यद्यपि पाण्डवों के ममेरे भाई, मित्र, हितैषी, मन्त्री, दूत, उपकारी, आदि बने हुए थे, तो भी वे थे तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही। अपनी अहैतुकी कृपावश तथा अपने अनन्य भक्तों पर कृपा जताने के लिए वे सभी प्रकार की सेवा करते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि उन्होंने परम पुरुष के रूप में अपना पद बदल दिया है। उन्हें सामान्य पुरुष के रूप में सोचना सबसे बड़ी मूर्खता है।

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।

तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥ २१ ॥

## शब्दार्थ

सर्व-आत्मनः—प्रत्येक जीव के हृदय में वास करनेवाले का; सम-दृशः—सबों पर समान रूप से दयालु होनेवाले का; हि—निश्चय ही; अद्वयस्य—परम का; अनहङ्कृतेः—मिथ्या अहंकार की सारी पहचान से मुक्त; तत्-कृतम्—उनके द्वारा सब कुछ किया गया; मति—चेतना; वैषम्यम्—विषमता, अन्तर; निरवद्यस्य—समस्त आसक्ति से मुक्त हुआ; न—कभी नहीं; क्वचित्—किसी अवस्था में।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे प्रत्येक के हृदय में विद्यमान हैं। वे सबों पर समान रूप से दयालु हैं और भेदाभेद के मिथ्या अहंकार से सर्वथा मुक्त हैं। अतएव वे जो कुछ करते हैं, वह भौतिक उन्माद से मुक्त होता है। वे समदर्शी हैं।

तात्पर्य : चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतएव उनसे कुछ भी भिन्न नहीं है। वे कैवल्य हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु तथा हर कोई व्यक्ति उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार अपनी शक्ति के द्वारा वे सर्वत्र उपस्थित हैं क्योंकि वे उससे अभिन्न हैं। सूर्य की पहचान सूर्य की किरणों के प्रत्येक इंच से तथा किरणों के प्रत्येक सूक्ष्म कण से की जाती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा सर्वत्र फैले हुए हैं। वे परमात्मा हैं और परम निर्देशक के रूप में सबों में उपस्थित हैं। अतएव वे पहले से ही समस्त जीवों के सारथी तथा उपदेशक (मन्त्री) हैं। अतएव, जब वे अर्जुन के सारथी के रूप में स्वयं प्रकट होते हैं, तो उनके उच्चस्थ स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह तो भक्तिमय सेवा की शक्ति है, जो उन्हें सारथी या दूत के रूप में प्रदर्शित करती है। चूँकि जीवन की भौतिक अवधारणा से उनका कोई सरोकार नहीं रहता, क्योंकि वे परम आध्यात्मिक सत्ता हैं, अतएव उनके लिए कोई कर्म न तो उत्कृष्ट है और न निकृष्ट। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण उन्हें मिथ्या अहंकार नहीं होता। अतएव वे अपने को किसी वस्तु से भिन्न नहीं मानते। उनमें अहंकार का भाव सन्तुलित रहता है। अतएव वे अपने शुद्ध भक्त के सारथी बनकर अपने को निकृष्ट नहीं मानते। यह तो शुद्ध भक्त की महिमा ही है कि वह अपने प्रिय भगवान् से सेवा करा लेता है।

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् ।

यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥ २२ ॥



## शब्दार्थ

तथापि—फिर भी; एकान्त—एकनिष्ठ; भक्तेषु—भक्तों में; पश्य—देखो; भू-प—हे राजा; अनुकम्पितम्—कितना दयावान्; यत्—जिसके लिए; मे—मेरा; असून्—जीवन; त्यजतः—समाप्त करते हुए; साक्षात्—प्रत्यक्ष; कृष्णः—भगवान्; दर्शनम्—सामने; आगतः—कृपा करके आये हैं।

सबों पर समान रूप से दयालु होते हुए भी वे अब कृपापूर्वक मेरे समक्ष आये हैं, जब मैं मेरे जीवन का अंत कर रहा हूँ, क्योंकि मैं उनका अनन्य सेवक हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि परम भगवान् श्रीकृष्ण समदर्शी हैं, तो भी अपने अनन्य भक्तों के प्रति वे विशेष कृपालु रहते हैं, क्योंकि भक्तगण उन्हीं को अपना रक्षक तथा स्वामी मानकर पूर्णरूपेण उनके शरणागत होते हैं। परमेश्वर को अपना रक्षक, मित्र तथा स्वामी मानकर उनमें अनन्य श्रद्धा रखना शाश्वत जीवन की सहज अवस्था है। सर्वशक्तिमान की इच्छा से जीव इस तरह बनाया गया है कि जब वह पूर्णतया आश्रित रहता है, तब वह सर्वाधिक सुखी होता है।

इसके विपरीत मनोवृत्ति का होना पतन का कारण है। जब जीवात्मा भौतिक जगत् पर प्रभुत्प जताने के लिए अपनी पहचान गलत ढंग से इस प्रकार करता है, मानो कि वह भगवान् से सर्वथा स्वतंत्र है, तब वह पतनशील हो जाता है। सारी कठिनाई की जड़ मिथ्या अहंकार है। मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक दशा में वह भगवान् के प्रति आकृष्ट हो।

भीष्मजी की मृत्यु-शय्या के निकट भगवान् कृष्ण इसीलिए प्रकट हुए, क्योंकि भीष्म उनके अनन्य भक्त थे। अर्जुन का कृष्ण से कुछ शारीरिक सम्बन्ध था, क्योंकि भगवान् उसके ममेरे भाई लगते थे। किन्तु भीष्म से उनका ऐसा कोई सम्बन्ध न था। अतएव आकर्षण का कारण आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। फिर भी चूँकि शारीरिक सम्बन्ध अधिक सुखद तथा स्वाभाविक होता है, इसीलिए भगवान् को जब महाराज नन्द या यशोदा का पुत्र कहा जाता है या राधारानी का प्रेमी कहा जाता है, तो वे अधिक प्रसन्न होते हैं। भगवान् के साथ इस प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध होना भी भगवान् की प्रेममय सेवा के आदान-प्रदान का एक और लक्षण है। भीष्मदेव इस दिव्य-भाव की मधुरता से अवगत हैं, इसीलिए वे भगवान् को 'विजय-सखे' 'पार्थ-सखे' आदि कहकर सम्बोधित करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे उन्हें 'नन्द-नन्दन' या 'यशोदा-नन्दन' कहा जाता है। उनसे दिव्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि मान्य भक्तों के

माध्यम से उन तक पहुँचा जाय। मनुष्य को चाहिए कि उनसे सीधे सम्पर्क स्थापित न करे, अपितु किसी माध्यम के द्वारा उन तक पहुँचे, जो पारदर्शी तथा सही पथ पर ले जाने में समर्थ हो।

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।

त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥ २३ ॥

### शब्दार्थ

भक्त्या—भक्तिपूर्वक; आवेश्य—चिन्तन करके; मनः—मन; यस्मिन्—जिसमें; वाचा—शब्दों से; यत्—कृष्ण का; नाम—पवित्र नाम; कीर्तयन्—कीर्तन करते हुए; त्यजन्—परित्याग करते हुए; कलेवरम्—इस भौतिक शरीर को; योगी—भक्त; मुच्यते—मोक्ष पाता है; काम-कर्मभिः—सकाम कर्मों से।

वे पुरुषोत्तम भगवान् जो एकाग्र भक्ति तथा चिन्तन से एवं पवित्र नाम के कीर्तन से भक्तों के मन में प्रकट होते हैं, वे उन भक्तों को उनके द्वारा भौतिक शरीर को छोड़ते समय सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त कर देते हैं।

तात्पर्य : योग का अर्थ है अन्य समस्त विषयों से हटाकर, मन को केन्द्रित करना और वास्तव में ऐसी एकाग्रता *समाधि* है या भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत अनुरक्ति है। जो इस प्रकार अपने चित्त को एकाग्र करता है, वह योगी कहलाता है। भगवान् का ऐसा योगी भक्त, भगवान् की सेवा में प्रतिदिन चौबीसों घण्टे लगा रहता है। फलस्वरूप उसका सारा ध्यान नवधा भक्ति में भगवान् के चिन्तन में लगा रहता है। नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, स्तुति, दास्य-भाव, आज्ञा-पालन, सख्य-भाव या समर्पण सम्मिलित हैं। योग के ऐसे अभ्यास से अर्थात् भगवान् की सेवा द्वारा उनसे जुड़ने से भगवान् द्वारा मान्यता मिलती है, जैसाकि *समाधि* की सर्वोच्च स्थिति का वर्णन करते हुए *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् व्याख्या करते हैं। भगवान् ऐसे विरले भक्त को योगियों में श्रेष्ठ बतलाते हैं। भगवत्कृपा से ऐसा पूर्ण योगी अपना मन पूर्ण चेतना से भगवान् में एकाग्र करता है और इस प्रकार शरीर त्यागने के पूर्व उनके नाम का कीर्तन करने से वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा तुरन्त ऐसे लोक को भेज दिया जाता है, जहाँ भौतिक जीवन तथा उससे सम्बद्ध कारणों का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक अस्तित्व में जीव को अपने सकाम कर्मों के अनुसार जन्म-जन्मान्तर तीन प्रकार के कष्टों की भौतिक स्थिति को सहना होता है। ऐसा

भौतिक जीवन जीव की स्वाभाविक इच्छाओं के ही कारण उत्पन्न होता है। भगवान् की भक्तिमय सेवा से जीव की स्वाभाविक इच्छाओं को मारा नहीं जाता, अपितु वे भक्तिमय सेवा के सही कार्य में लगाई जाती हैं। इससे इच्छाओं के वैकुण्ठ में अंतरित होने की योग्यता आ जाती है। यहाँ पर सेनापति भीष्मदेव यहाँ पर विशेष प्रकार के योग का उल्लेख कर रहे हैं, जिसे भक्तियोग कहते हैं और वे भाग्यशाली थे कि भौतिक शरीर को त्यागने के पूर्व अपने समक्ष साक्षात् भगवान् को उपस्थित देख रहे थे। अतएव अगले श्लोकों में उन्होंने इच्छा व्यक्त की है कि भगवान् उनकी दृष्टि के समक्ष ही बने रहें।

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां  
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।  
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-  
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥ २४ ॥

### शब्दार्थ

सः—वे; देव-देवः—देवताओं के भी देवता, प्रभुओं में श्रेष्ठ; भगवान्—भगवान्; प्रतीक्षताम्—कृपया प्रतीक्षा करें;  
कलेवरम्—शरीर को; यावत्—जब तक; इदम्—इस; हिनोमि—त्याग दूँ; अहम्—मैं; प्रसन्न—प्रसन्न; हास—हँसते हुए;  
अरुण-लोचन—प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल नेत्र; उल्लसत्—सुन्दर ढंग से सजाये; मुख-अम्बुजः—कमल के  
समान उनका मुख; ध्यान-पथः—मेरे ध्यान के मार्ग में; चतुर-भुजः—चार भुजाओंवाले नारायण ( भीष्मदेव द्वारा आराध्य देव )।

चतुर्भुज-रूप, उगते सूर्य की भाँति अरुणनेत्रों तथा सुन्दर रीति से सजाये, मुस्कराते कमलमुख वाले मेरे भगवान्, आप उस क्षण तक यहीं मेरी प्रतीक्षा करें, जब तक मैं अपना यह भौतिक शरीर छोड़ न दूँ।

तात्पर्य : भीष्मदेव अच्छी तरह जानते थे कि भगवान् कृष्ण आदि नारायण हैं। उनके आराध्यदेव चतुर्भुज नारायण थे, लेकिन वे यह जानते थे कि ये चतुर्भुज नारायण भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश हैं। परोक्ष रूप में उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने चतुर्भुज नारायण रूप में प्रकट हों। वैष्णव सदा ही अपने आचरण में विनीत होता है। यद्यपि यह शत-प्रतिशत निश्चित था कि इस शरीर को त्याग कर भीष्मदेव वैकुण्ठलोक जा रहे हैं, तो भी विनीत वैष्णव के रूप में उन्होंने भगवान् की सुन्दर मुखाकृति देखनी चाही, क्योंकि उन्होंने सोचा कि कहीं इस

शरीर को छोड़ने के बाद वे भगवान् का दर्शन न भी कर पाएँ। वैष्णव को कभी गर्व नहीं होता, यद्यपि भगवान् अपने भक्तों को अपने धाम में प्रवेश करने की गारंटी देते हैं। यहाँ पर भीष्मदेव कहते हैं, “जब तक मैं अपना शरीर त्याग न दूँ।” इसका अर्थ यह है कि यह महान सेनापति अपनी इच्छा से शरीर-त्याग करेंगे; वे प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं हैं। वे इतने शक्तिशाली थे कि वे जब तक चाहते, अपने शरीर में बने रह सकते थे। यह वर उन्हें अपने पिता से प्राप्त हुआ था। उनकी इच्छा थी कि भगवान् अपने चतुर्भुज नारायण रूप में उनके समक्ष रहें, जिससे वे उनका ध्यान कर सकें और समाधि दशा को प्राप्त हो लें। तब उनका मन भगवान् का चिन्तन करके पवित्र हो जाय। फिर वे कहीं भी जाएँ, इसकी उन्हें परवाह नहीं रहेगी। एक शुद्ध भक्त भगवद्धाम वापस जाने के लिए कभी भी चिन्तित नहीं रहता। वह तो भगवान् की इच्छा पर पूर्णतः आश्रित रहता है। यदि भगवान् उसे नरक भी भेजना चाहें, तो भी वह समान रूप से तुष्ट होता है। शुद्ध भक्त की तो एक ही इच्छा रहती है कि वह सदा भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहे। भीष्मदेव की इतनी ही इच्छा थी कि उनका मन भगवान् के चिन्तन में लीन रहे और वे इसी तरह चल बसें। शुद्ध भक्त की सर्वोच्च अभिलाषा यही होती है।

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।

अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम् ॥ २५ ॥

**शब्दार्थ**

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर; तत्—वह; आकर्ण्य—सुनकर; शयानम्—लेटे हुए; शर-पञ्जरे—बाणों की शय्या पर; अपृच्छत्—पूछा; विविधान्—विविध; धर्मान्—कर्तव्यों को; ऋषीणाम्—ऋषियों का; च—तथा; अनुशृण्वताम्—सुनने के बाद।

सूत गोस्वामी ने कहा : भीष्मदेव को इस प्रकार आग्रहपूर्ण स्वर में बोलते देखकर, महाराज युधिष्ठिर ने समस्त महर्षियों की उपस्थिति में उनसे विभिन्न धार्मिक कृत्यों के अनिवार्य सिद्धान्त पूछे।

**तात्पर्य :** भीष्मदेव को आग्रहपूर्ण स्वर में बोलते देखकर महाराज युधिष्ठिर समझ गये कि वे शीघ्र ही प्रयाण करनेवाले हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को प्रेरित किया कि वे धर्म के सिद्धान्तों के बारे में उनसे पूछें। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को प्रेरित किया कि वे अनेक महर्षियों की उपस्थिति में भीष्मदेव से प्रश्न पूछें, जिससे यह संकेत मिलता है कि यद्यपि भीष्मदेव जैसा भगवद्भक्त सामान्य पुरुष की भाँति रहता है, किन्तु बड़े-बड़े मुनियों से, यहाँ तक कि व्यासदेव से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। दूसरी बात यह है कि भीष्मदेव उस समय न केवल शर-शय्या पर लेटे थे, अपितु अपनी इस अवस्था के कारण वे अत्यन्त कष्टमय स्थिति में थे। ऐसी अवस्था में उनसे प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिए थे, लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनके शुद्ध भक्त सदैव आध्यात्मिक प्रकाश के कारण शरीर तथा मन से पूर्णरूपेण स्वस्थ रहते हैं, अतएव भगवद्भक्त किसी भी अवस्था में रहकर जीवन की सही दिशा बताने में समर्थ होता है। युधिष्ठिर भी चाहते थे कि वहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों से, जो भीष्मदेव से भी अधिक विद्वान लगते थे, उनसे न पूछ करके अपनी समस्याओं का समाधान भीष्मदेव से करें। यह सब चक्रधारी श्रीकृष्ण की योजना थी, क्योंकि वे अपने भक्त की महिमा को संस्थापित करना चाहते हैं। पिता चाहता है कि उसका पुत्र उसकी अपेक्षा अधिक प्रख्यात बने। भगवान् जोर देकर घोषित करते हैं कि उनके भक्तों की पूजा उनकी खुद की पूजा से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम् ।

वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ॥ २६ ॥

**शब्दार्थ**

पुरुष—मनुष्य; स्व-भाव—अपने गुणों से; विहितान्—विहित, अनुमत; यथा—के अनुसार; वर्णम्—जातियों का वर्गीकरण; यथा—के अनुसार; आश्रमम्—जीवन के आश्रम; वैराग्य—विरक्ति; राग—आसक्ति; उपाधिभ्याम्—ऐसी उपाधियों से; आमनात—क्रमबद्ध रूप से; उभय—दोनों; लक्षणान्—लक्षणों को।

महाराज युधिष्ठिर के पूछे जाने पर भीष्मदेव ने सर्वप्रथम व्यक्ति की योग्यताओं के अनुसार जातियों के वर्गीकरण (वर्ण) तथा जीवन के आश्रमों का वर्णन किया। फिर उन्होंने क्रमबद्ध रूप से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति नामक दो उपखण्डों का वर्णन किया।

**तात्पर्य :** चार वर्णों तथा चार आश्रमों की अवधारणा, जैसी स्वयं भगवान् ने ( *भगवद्-गीता* ४.१३ में) प्रस्तुत की है, व्यक्ति में दिव्य गुणों को बढ़ाने के लिए है, जिससे वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप को जान सके और तदनुसार वह भवबन्धन या बद्ध जीवन से मुक्त हो सके। प्रायः सभी पुराणों में इस विषय का इसी रूप में वर्णन हुआ है और उसी प्रकार *महाभारत* के *शान्ति-पर्व* में, साठवें अध्याय से आगे भीष्मदेव द्वारा किया गया इसका विस्तृत वर्णन है।

सभ्य मनुष्यों के लिए वर्णाश्रम-धर्म की संस्तुति इसलिए की जाती है, जिससे वे मानव जीवन को सफलतापूर्वक समाप्त करने की शिक्षा प्राप्त कर सकें। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन में रत निम्न पशुओं के जीवन में और आत्म-साक्षात्कार में अन्तर है। भीष्मदेव ने सभी मनुष्यों के लिए नौ योग्यताएँ बताई हैं : (१) क्रोध न करना, (२) झूठ न बोलना, (३) धन-सम्पदा का समान वितरण करना, (४) क्षमा करना, (५) अपनी वैध पत्नी से ही सन्तान उत्पन्न करना, (६) मन से शुद्ध तथा शरीर से स्वच्छ रहना, (७) किसी के प्रति शत्रुभाव न रखना, (८) सरल होना, तथा (९) सेवकों या आश्रितों का पालन करना। उपर्युक्त प्राथमिक योग्यताओं को अर्जित किए बिना मनुष्य को सभ्य नहीं कहा जा सकता। इनके साथ-साथ ब्राह्मणों (बुद्धिमान व्यक्तियों), प्रशासनिक व्यक्तियों (क्षत्रियों), वणिक समुदाय (वैश्य) तथा श्रमिक वर्ग (शूद्र) को समस्त वैदिक शास्त्रों में वर्णित अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुसार विशेष योग्यताएँ प्राप्त करनी होती हैं। बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए इन्द्रियों पर संयम रखना सर्वाधिक अनिवार्य योग्यता है। यह नैतिकता का मूलाधार है। अपनी वैध पत्नी से भी नियंत्रित रूप में मैथुन करना चाहिए, जिससे स्वतः परिवार-नियोजन हो सके। बुद्धिमान मनुष्य यदि वैदिक जीवन-प्रणाली नहीं अपनाता, तो वह अपनी योग्यताओं का दुरुपयोग कर रहा होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वैदिक साहित्य का और विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। वैदिक ज्ञान सीखने के लिए उसे ऐसे व्यक्ति के पास जाना चाहिए, जो पूर्णरूपेण भक्तिमय सेवा में लगा हो। उसे *शास्त्र-वर्जित* कोई भी बात नहीं करनी चाहिए। यदि कोई मद्यपान करता है या मादक द्रव्य का सेवन करता है, तो वह शिक्षक नहीं बन सकता। आधुनिक शिक्षण-

प्रणाली में शिक्षक की शैक्षिक योग्यताओं पर ही ध्यान दिया जाता है, उसके नैतिक जीवन पर नहीं। अतएव इस शिक्षा के परिणाम से उच्च बुद्धि का कई प्रकार से दुरुपयोग होता है।

शासक-वर्ग के सदस्यों अर्थात् क्षत्रियों को विशेष सलाह दी जाती है कि वे दान तो दें, किन्तु *किसी भी परिस्थिति में दान न लें।* आधुनिक प्रशासक राजनीतिक कार्यों के लिए धन-संग्रह तो करते हैं, किन्तु वे किसी भी राजकीय समारोह में नागरिकों को दान कभी नहीं देते। यह शास्त्रों के आदेशों के सर्वथा विपरीत है। प्रशासक वर्ग को शास्त्रों में निपुण होना चाहिए, लेकिन उन्हें शिक्षक का पेशा नहीं अपनाना चाहिए। *प्रशासकों को कभी भी अहिंसक बनने का स्वाँग नहीं करना चाहिए,* जिससे उन्हें नरक जाना पड़े। जब अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अहिंसक कायर बनना चाह रहा था, तब भगवान् कृष्ण ने उसकी तीव्र प्रताड़ना की। भगवान् ने अहिंसक पंथ स्वीकार करने के लिए अर्जुन को असभ्य पुरुष तक कह डाला। प्रशासक वर्ग को व्यक्तिगत तौर पर सैन्य-शिक्षा में प्रशिक्षित होना चाहिए। मतों कि संख्या के आधार पर कायरों को राष्ट्रपति के पद तक ऊपर नहीं उठाया जा सकता। एकछत्र राजा अत्यन्त वीर पुरुष होते थे, अतएव यदि एकछत्र राजा को कर्तव्यों का नियमित प्रशिक्षण दिया जाय, तो राजतन्त्र पद्धति को चालु रखना चाहिए। *युद्ध में, राजा या राष्ट्रपति को तब तक घर नहीं लौटना चाहिए जब तक वह शत्रु द्वारा घायल न हो जाय।* आज का तथाकथित राजा कभी युद्धभूमि में तो जाता ही नहीं। वह झूठी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की आशा में सैनिक शक्ति को कृत्रिम रूप से प्रोत्साहित करने में अत्यन्त दक्ष होता है। जैसे-जैसे प्रशासक वर्ग वणिकों तथा श्रमिकों की टोली का रूप धारण कर लेता है, तो सरकार की सारी प्रणाली ही दूषित हो जाती है।

व्यापारी-वर्ग के सदस्यों अर्थात् वैश्यों को विशेष रूप से आदेश है कि वे गायों की रक्षा करें। गायों की रक्षा करने का अर्थ है, दुग्ध उत्पादन अर्थात् दही तथा मक्खन की वृद्धि। व्यापारी वर्ग का मुख्य कर्तव्य है कि कृषि तथा खाद्य सामग्री के वितरण के साथ ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करे और दान देने में प्रशिक्षित हो। जिस प्रकार क्षत्रियों पर प्रजा की सुरक्षा का भार सौंपा जाता था, उसी प्रकार वैश्यों पर पशुओं की सुरक्षा का भार था। पशु कभी भी वध किये जाने के

लिए नहीं होते हैं। पशु-वध बर्बर समाज का ही एक लक्षण है। मनुष्य के लिए कृषि-उत्पाद, फल तथा दुग्ध ही पर्याप्त तथा अनुकूल खाद्य-पदार्थ हैं। मानव-समाज को चाहिए कि पशु-सुरक्षा पर अधिक ध्यान दे। श्रमिक की उत्पादक शक्ति का दुरुपयोग तब होता है, जब उसे औद्योगिक कार्यों में लगा दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के उद्योग कभी भी मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं—यथा चावल, गेहूँ, धान्य, दूध, फल, तरकारी—का उत्पादन नहीं कर सकते। मशीनों तथा मशीनी औजारों के उत्पादन से स्वार्थी वर्ग के लोगों के कृत्रिम रहन-सहन को बढ़ावा मिलता है और हजारों लोग भूखों मरते हैं तथा अशान्त बनते हैं। सभ्यता का मानक यह नहीं होना चाहिए।

शूद्र वर्ग कम बुद्धिमान होता है और उसे कभी भी स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिए। वे समाज के तीन उच्चतर वर्णों की सेवा करने के निमित्त हैं। शूद्र वर्ग उच्चतर वर्णों की सेवा से ही जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है। शूद्रों के लिए यह विशेष आदेश है कि वे धन-संचय न करें। ज्योंही शूद्र धन संग्रह कर लेते हैं, त्योंही वे इसका दुरुपयोग सुरा, सुन्दरी तथा जुआ खेलने में करने लगते हैं। *सुरा, सुन्दरी तथा जुआ खेलना इसके सूचक हैं कि जनता शूद्रों से भी नीचे गिर चुकी है।* उच्च-जातियों को चाहिए कि वे हमेशा शूद्रों के पालन का ध्यान रखें और उन्हें अपने इस्तेमाल किये हुए पुराने वस्त्र दें। शूद्र अपने मालिक को तब भी न छोड़े, जब वह वृद्ध तथा अशक्त हो जाँय और मालिकों को चाहिए कि वे सेवकों को सभी प्रकार से संतुष्ट रखें। किसी भी यज्ञ के पूर्व सर्व प्रथम शूद्रों को प्रचुर भोजन तथा वस्त्र द्वारा संतुष्ट किया जाना चाहिए। आज के समय में लाखों रुपये खर्च करके अनेकानेक समारोह मनाये जाते हैं, *लेकिन बेचारे श्रमिकों को न तो ठीक से भोजन दिया जाता है, न दान या वस्त्र इत्यादि दिये जाते हैं।* इस प्रकार श्रमिक लोग असंतुष्ट ही बने रहते हैं और इसीलिए उपद्रव मचाते रहते हैं।

एक प्रकार से ये वर्ण विभिन्न वृत्तियों के वर्गीकरण हैं और आश्रम धर्म आत्म-साक्षात्कार के पथ पर क्रमिक प्रगति है। दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। *आश्रम-धर्म* का मुख्य उद्देश्य ज्ञान तथा वैराग्य जागृत करना है। ब्रह्मचारी आश्रम भावी जीवन के लिये



प्रशिक्षण स्थल है। इस आश्रम में यह शिक्षा दी जाती है कि यह संसार जीवों का वास्तविक घर (आवास) नहीं है। बद्धजीव भवबंधन के अन्तर्गत पदार्थ के बंदी हैं, अतएव आत्म-साक्षात्कार ही जीवन का अनन्तिम लक्ष्य है। *आश्रम धर्म* की सारी प्रणाली वैराग्य का एक साधन है। जो व्यक्ति वैराग्य की इस मूल भावना को आत्मसात् नहीं कर पाता, उसे वैराग्य की उसी भावना से गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की जाती है। अतएव जो व्यक्ति वैराग्य प्राप्त कर लेता है, वह तुरन्त ही चतुर्थ आश्रम अर्थात् *संन्यास* ग्रहण कर सकता है। उसे केवल भिक्षा पर ही निर्भर रहना होता है, धन संग्रह नहीं करना होता, अपितु शरीर तथा आत्मा को चरम साक्षात्कार के लिए बनाये रखना होता है। गृहस्थ जीवन तो *आसक्तों* के लिए है। *वानप्रस्थ* तथा *संन्यास* आश्रम उनके लिये हैं, जो भौतिक जीवन से *विरक्त हो चुके हैं*। *ब्रह्मचारी आश्रम* तो आसक्त तथा विरक्त दोनों ही के प्रशिक्षण के लिये होता है।

दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः ।

स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः ॥ २७ ॥

### शब्दार्थ

दान-धर्मान्—दान के कृत्यों को; राज-धर्मान्—राजाओं के राज्य विषयक कार्य-कलापों को; मोक्ष-धर्मान्—मोक्ष के कार्यों को; विभागशः—विभागानुसार; स्त्री-धर्मान्—स्त्रियों के कर्तव्य को; भगवत्-धर्मान्—भक्तों के कार्यों को; समास—सामान्यता; व्यास—स्पष्ट रूप से; योगतः—योग के द्वारा।

तब उन्होंने दान-कर्मों, राजा के राज्य-विषयक कार्यकलापों तथा मोक्ष-कर्मों की खण्ड-वार व्याख्या की। फिर उन्होंने स्त्रियों तथा भक्तों के कर्तव्यों का संक्षेप में विशद रूप से वर्णन किया।

**तात्पर्य :** दान देना गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है और उसे अपनी कठिन कमाई का कम से कम पचास प्रतिशत हिस्सा दान में देने के लिए तैयार रहना चाहिए। ब्रह्मचारी को यज्ञ करने चाहिए, गृहस्थ को दान देना चाहिए और वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम वाले व्यक्ति को तपस्या करनी चाहिए। समस्त आश्रमों अथवा आत्म-साक्षात्कार के पथ पर जीवन के समस्त आश्रमों के लिए ये ही सामान्य कर्तव्य हैं। ब्रह्मचर्य जीवन में काफी प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे मनुष्य

यह समझ ले कि यह संसाररूपी सम्पत्ति भगवान् की है। अतएव कोई भी व्यक्ति संसार की किसी वस्तु का स्वामी होने का दावा नहीं कर सकता। अतः गृहस्थ जीवन, जिसमें विषय भोग के लिये एक प्रकार की छूट है, उसमें मनुष्य को भगवान् की सेवा के निमित्त दान देना चाहिए। भगवान् की शक्ति के भण्डार से ही शक्ति उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक को प्रदान की जाती है। अतएव ऐसी शक्ति के द्वारा किए गए कार्यों को भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा के रूप में अर्पित करना चाहिए। जिस प्रकार नदियाँ सागर से बादलों के माध्यम से जल प्राप्त करती हैं और पुनः समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हमारी शक्ति भगवान् की शक्ति के सर्वोपरि स्रोत से प्राप्त होती है और हमें इसे भगवान् को लौटाना होता है। हमारी शक्ति की पूर्णता इसी में है। अतः *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कहते हैं कि हम जो भी करते हैं, जो भी तपस्या करते हैं, जो भी यज्ञ करते हैं, जो भी खाते या दान देते हैं, वह सब उन्हें (भगवान् को) ही अर्पित किया जाना चाहिए। उधार ली गई अपनी शक्ति के उपयोग की यही विधि है। जब हम इस विधि से शक्ति का उपयोग करते हैं, तब हमारी शक्ति भौतिक उन्माद के कल्मष से रहित हो जाती है और इस प्रकार हम भगवान् की सेवा करने के लिये अपने मूल प्राकृतिक जीवन के योग्य बन जाते हैं।

*राज-धर्म*, राजनीतिक श्रेष्ठता के लिये आधुनिक कूटनीति से भिन्न, एक महान विज्ञान है। राजाओं को केवल कर संग्राहक बनने के बजाय दानवीर बनने की विधिपूर्वक शिक्षा दी जाती थी। उन्हें अपनी प्रजा की सम्पन्नता के लिए ही यज्ञ करने की शिक्षा दी जाती थी। प्रजा को मोक्ष प्राप्त कराना राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य था। पिता, गुरु तथा राजा को कभी भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से प्रजा को मुक्ति प्राप्त कराने के मार्ग पर लापरवाह नहीं होना चाहिये। जब ये प्राथमिक कर्तव्य सही ढंग से सम्पन्न हो जाते हैं, तो फिर जनता द्वारा, जनता के लिए बनाई गई सरकार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। आजकल लोग छद्म से बटोरे गये मतों के बल पर शासन-अधिकार पा तो लेते हैं, लेकिन उन्हें राजा के मूल कर्तव्यों का प्रशिक्षण कभी नहीं मिलता और हर एक के लिये ऐसा कर पाना सम्भव भी नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में अप्रशिक्षित प्रशासक प्रजा को सभी प्रकार से सुखी बनाने के प्रयत्न में कहर ढाता है। दूसरी ओर, ये

अप्रशिक्षित प्रशासक धीरे-धीरे चोर तथा धूर्त बन जाते हैं और डांवाडोल राज्य पर करों में वृद्धि करते जाते हैं, जिससे प्रशासन के लिये धन प्राप्त हो, जो सभी प्रयोजनों के लिए व्यर्थ होता है। वास्तव में *मनुसंहिता* तथा पराशर कृत *धर्मशास्त्र* जैसे शास्त्रों के अनुसार राजा को समुचित प्रशासनिक निर्देश देने के लिए, योग्यता-प्राप्त ब्राह्मण ठीक माने गये हैं। एक गुणवान राजा जनता का आदर्श होता है, अतः यदि राजा पुण्यात्मा, धर्मात्मा, शौर्यवान तथा दानवीर होता है, तो जनता भी सामान्य रूप से उसका अनुकरण करती है। ऐसा राजा आलसी, विषयी व्यक्ति नहीं होता, जो प्रजा पर आश्रित रहता हो, अपितु चोरों तथा डाकुओं का वध करने में सदैव सतर्क रहता है। पुण्यात्मा राजा कभी भी व्यर्थ की अहिंसा के नाम पर डाकुओं तथा चोरों पर दया नहीं किया करते थे। डाकुओं तथा चोरों को इस प्रकार दण्डित किया जाता था कि भविष्य में कोई सुनियोजित ढंग से ऐसे दुष्कर्म करने का साहस भी न करे। आज की तरह ऐसे डाकू तथा चोर कभी भी प्रशासन चलाने के लिये नहीं होते थे।

तब कर लगाने के नियम सरल थे। न तो कोई जबरदस्ती की जाती थी, न घुसपैठ। राजा को प्रजा की उपज का एक चौथाई लेने का अधिकार था। राजा को किसी को प्राप्त सम्पदा का एक चौथाई पर हक जताने का अधिकार था। किसी को इतना देने में कोई एतराज भी नहीं था, क्योंकि राजा के पुण्यात्मा होने तथा धार्मिक एकता होने के कारण प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा होती थी—यथा अन्न, फल, फूल, रेशम, कपास, दूध, हीरे-जवाहरात, खनिज इत्यादि; अतएव कोई भी भौतिकता की दृष्टि से असंतुष्ट नहीं रहता था। प्रजा कृषि तथा पशु-धन में समृद्ध थी। अतएव उसके पास प्रचुर अन्न, फल तथा दूध था और उन्हें साबुन, सौंदर्य प्रसाधन, सिनेमा तथा मदिरालयों की कोई कृत्रिम आवश्यकता न थी।

राजा को यह देखना होता था कि मानवता की संचित शक्ति का सही ढंग से उपयोग हो रहा है। मानव शक्ति पशु जैसी इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु आत्म-साक्षात्कार के लिए होती है। सरकार की सारी योजना इस विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती थी। फलःस्वरूप राजा को उचित रीति से मन्त्रियों का चयन करना होता था, मतों की पृष्ठभूमि के बल पर नहीं।

मन्त्री, सेनानायक तथा सामान्य सिपाही तक व्यक्तिगत योग्यताओं के आधार पर चुने जाते थे और अपने-अपने पदों पर नियुक्त होने के पूर्व राजा उन पर समुचित निगरानी रखता था। राजा विशेष रूप से सतर्क रहता था कि ऐसे तपस्वी छूटें नहीं, जिन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अपना सब कुछ त्याग कर दिया हो। *राजा भलीभाँति जानता था कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कभी भी अपने अनन्य भक्तों का तिरस्कार सहन नहीं करते।* यहाँ तक कि ऐसे तपस्वी उन चोर-उचक्यों के भी विश्वस्त जन-नायक होते थे, जो इन *तपस्वियों* की आज्ञाओं का कभी उल्लंघन नहीं करते थे। राजा निरक्षरों, असहायों तथा विधवाओं को विशेष सुरक्षा प्रदान करता था। शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने के पूर्व रक्षा के सारे उपाय किये जाते थे। कर-प्रणाली सरल थी और इसका उद्देश्य संचित कोष को बढ़ाना होता था, लोगों को लूटना नहीं। सैनिकों की भर्ती सारे विश्व भर से की जाती थी और उन्हें विशेष कार्यों के लिए प्रशिक्षित किया जाता था।

जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है, मनुष्यों को काम, क्रोध, अवैध इच्छाओं, लोभ तथा मोह पर विजय प्राप्त करनी होती थी। क्रोध पर विजय पाने के लिए मनुष्य को क्षमा करना सीखना चाहिए। अवैध इच्छाओं से मुक्त रहने के लिए आवश्यक है कि व्यर्थ की योजनाएँ न बनाई जाँय। आध्यात्मिक अनुशीलन द्वारा नींद पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सहिष्णुता द्वारा इच्छाओं तथा लोभ पर विजय पाई जा सकती है। नियमित एवं संतुलित आहार द्वारा विभिन्न रोगों से होनेवाली गड़बड़ियों से बचा जा सकता है। आत्म-संयम से झूठी आशाओं से मुक्त हुआ जा सकता है और कुसंगति से बचकर धन-संग्रह किया जा सकता है। योगाभ्यास से भूख पर नियन्त्रण किया जा सकता है और नश्वरता का ज्ञान होने से सांसारिकता से बचा जा सकता है। जल्दी उठने से आलस्य को जीता जा सकता है और तथ्यों के निर्धारण से झूठे तर्क समाप्त किये जा सकते हैं। वाचालता को गंभीरता से तथा मौन द्वारा और भय को पराक्रम से जीता जा सकता है। स्वाध्याय द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। मनुष्य को काम, लोभ, क्रोध, स्वप्न इत्यादि से मुक्त होना चाहिए, जिससे असली मोक्ष-मार्ग प्राप्त हो सके।

जहाँ तक स्त्री-वर्ग का सम्बन्ध है, स्त्रियाँ मनुष्यों की प्रेरणा स्रोत मानी जाती रही हैं। इस तरह वे मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली होती हैं। पराक्रमी जुलियस सीजर क्लियोपैत्रा के वश में हो गया था। ऐसी शक्तिशाली स्त्रियाँ लज्जा द्वारा नियन्त्रित होती हैं। अतएव लज्जा स्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण है। एक बार इस सुरक्षा वाल्व पर से नियंत्रण ढीला पड़ा, तो व्यभिचार द्वारा समाज में उत्पात उठ खड़ा होता है। व्यभिचार का अर्थ है *वर्ण-संकर* अर्थात् अवांछित बालकों की उत्पत्ति, जिससे विश्व में गड़बड़ी फैल जाती है।

भीष्मदेव की अन्तिम शिक्षा भगवान् को प्रसन्न करने की विधि के विषय में थी। हम सब भगवान् के सनातन दास हैं और जब हम अपने स्वभाव के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को भूल जाते हैं, तो हमें जीवन की भौतिक अवस्था में आना पड़ता है। भगवान् को प्रसन्न करने की (विशेष रूप से गृहस्थों के लिए) सरल विधि है घर में भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित किया जाय। अर्चाविग्रह में चित्त एकाग्र करके दैनिक कार्य किये जा सकते हैं। घर में अर्चाविग्रह की पूजा, भक्त की सेवा, *श्रीमद्भागवत* का श्रवण, पवित्र तीर्थस्थान में वास तथा भगवन्नाम का कीर्तन—ये सब बिना व्यय के हो सकने वाले कार्य हैं, जिनसे भगवान् को प्रसन्न किया जा सकता है। इस प्रकार यह विषय पितामह द्वारा अपने पौत्रों को समझाया गया।

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने ।  
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥ २८ ॥

### शब्दार्थ

धर्म—वृत्तिपरक कार्य; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इच्छा पूर्ति; मोक्षान्—चरम-मुक्ति; च—तथा; सह—साथ; उपायान्—उपायों के; यथा—जिस तरह; मुने—हे मुनि; नाना—अनेक; आख्यान—ऐतिहासिक कथाओं के पाठ द्वारा; इतिहासेषु—इतिहासों में; वर्णयाम् आस—वर्णन किया; तत्त्व-वित्—सत्य के ज्ञाता।

तत्पश्चात्, उन्होंने इतिहास से उद्धरण देते हुए, विभिन्न आश्रमों तथा जीवन की अवस्थाओं के वृत्तिपरक कार्यों का वर्णन किया, क्योंकि वे उस सत्य से भलीभाँति परिचित थे।

**तात्पर्य :** पुराणों, महाभारत तथा रामायण जैसे वैदिक ग्रंथों में वर्णित घटनाएँ वास्तविक ऐतिहासिक कथाएँ हैं, जो भूतकाल में कभी घटित हुई थीं, यद्यपि वे किसी तिथि-क्रमानुसार नहीं हैं। ऐसे ऐतिहासिक तथ्य, बिना किसी तिथि-क्रम के ही, सामान्य जनों के लिए शिक्षाप्रद होने के कारण चुनकर रखे गये थे। इसके अतिरिक्त ये घटनाएँ विभिन्न ग्रहों या यों कहें कि विभिन्न ब्रह्माण्डों में घटित होती हैं। इसीलिए कथाओं के वर्णनों को कभी-कभी तीनों आयामों में मापा जाता है। हमें तो ऐसी घटनाओं से प्राप्त शिक्षाओं से सरोकार होना चाहिए, भले ही वे हमारे ज्ञान के सीमित दायरे के अनुसार क्रमबद्ध न हों। भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर के विभिन्न प्रश्नों के उत्तर में इन कथाओं को कह सुनाया।

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः ।

यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥ २९ ॥

### शब्दार्थ

धर्मम्—वृत्तिपरक कार्यों को; प्रवदतः—वर्णन करते हुए; तस्य—उसका; सः—वह; कालः—समय; प्रत्युपस्थितः—प्रकट हुआ; यः—जो है; योगिनः—योगियों के लिए; छन्द-मृत्योः—इच्छित समय में मृत्यु करनेवाले का; वाञ्छितः—के द्वारा इच्छित; तु—लेकिन; उत्तरायणः—वह अवधि, जब सूर्य उत्तरी क्षितिज पर रहता है।

जब भीष्मदेव वृत्तिपरक कर्तव्यों का वर्णन कर रहे थे, तभी सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध की ओर चला गया। इच्छानुसार मरनेवाले योगी इसी अवधि की कामना करते हैं।

**तात्पर्य :** सिद्ध योगी अपनी इच्छानुसार उपयुक्त समय में भौतिक शरीर त्याग कर, इच्छित लोक को जा सकते हैं। भगवद्गीता (८.२४) में कहा गया है कि स्वरूप-सिद्ध आत्माएं, जिन्होंने परमेश्वर के हित को ही सब कुछ मान रखा है, सामान्य रूप से अग्निदेव के तेज के समय तथा जब सूर्य उत्तरायण होता है, तभी अपना शरीर त्याग करते हैं और इस प्रकार दिव्य आकाश प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में ऐसे काल को शरीर-त्याग के लिए शुभ माना जाता है और सिद्ध योगी इसका लाभ उठाते हैं। योग की सिद्धि का अर्थ है ऐसी श्रेष्ठ मानसिक अवस्था प्राप्त करना, जिससे इच्छानुसार शरीर का त्याग किया जा सके। योगी किसी भी लोक में किसी भौतिक यान के बिना तुरन्त ही पहुँच सकते हैं। योगी ऊँचे से ऊँचे लोकों में अल्प समय में पहुँच सकते हैं,

लेकिन भौतिकतावादी के लिए ऐसा कर पाना असम्भव है। यदि किसी उच्चतम लोक तक पहुँचने का प्रयास किया भी जाय, तो लाखों मील प्रति घण्टे की गति होने पर भी वहाँ तक पहुँचने में लाखों वर्ष लग जाएँगे। यह एक भिन्न विज्ञान है और भीष्मदेव इसका सदुपयोग करना जानते थे। वे अपना शरीर छोड़ने के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में थे और तब वह स्वर्णिम अवसर आ पहुँचा, जब वे अपने पौत्र पाण्डवों को उपदेश दे रहे थे। इस प्रकार उन्होंने पूज्य भगवान् श्रीकृष्ण, पुण्यात्मा पाण्डव तथा भगवान् व्यास इत्यादि महर्षियों के समक्ष अपना शरीर त्यागने की तैयारी की।

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-  
 विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे ।  
 कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे  
 पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥ ३० ॥

### शब्दार्थ

तदा—उस समय; उपसंहृत्य—हटाकर; गिरः—वाणी; सहस्रणीः—भीष्मदेव ( जो हजारों विद्याओं तथा कलाओं में निष्णात थे ); विमुक्त-सङ्गम्—अन्य सारी बातों से पूर्ण रूप से मुक्त; मनः—मन; आदि-पूरुषे—आदि भगवान्; कृष्णे—कृष्ण में; लसत्-पीत-पटे—पीताम्बर से सुशोभित; चतुर-भुजे—चार भुजाओं वाले आदि नारायण में; पुरः—समक्ष; स्थिते—खड़े; अमीलित—खुले हुए; दृक्—दृष्टि; व्यधारयत्—स्थिर कर लिया।

तत्पश्चात् वह व्यक्ति, जो हजारों अर्थों से युक्त विभिन्न विषयों पर बोलता था तथा हजारों युद्धों में लड़ चुका था और हजारों व्यक्तियों की रक्षा कर चुका था, उसने बोलना बन्द कर दिया। उसने समस्त बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त होकर, अन्य सभी वस्तुओं से अपना मन हटाकर, अपने खुले नेत्रों को उन आदि भगवान् श्रीकृष्ण पर टिका दिया, जो उनके समक्ष खड़े थे, जो चार भुजाओं वाले थे और जगमग करते एवं चमचमाते हुए पीत वस्त्र धारण किये थे।

तात्पर्य : अपना भौतिक शरीर त्यागते समय, भीष्मदेव ने मनुष्य-जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य से सम्बन्धित यशस्वी उदाहरण प्रस्तुत किया। मरते हुए व्यक्ति को जो विषय जितना आकर्षित करता है, वह उसके अगले जीवन का शुभारम्भ बनता है। अतएव यदि कोई परमेश्वर श्रीकृष्ण के

विचारों में लीन रहता है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उसके लिए भगवान् के धाम में वापस जाना निश्चित है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.५-१५) में हुई है।

५. और मृत्यु के समय जो केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त करता है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

६. शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

७. अतएव हे अर्जुन, तुम्हें सदैव कृष्ण-रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए और साथ ही युद्ध करने के अपने कर्तव्य को भी पूरा करना चाहिए। अपने कर्मों को मुझे समर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझमें स्थिर करके, तुम निश्चित रूप से मुझे पा सकोगे।

८. हे पार्थ (अर्जुन), जो व्यक्ति अपने मन को मेरा स्मरण करने में निरन्तर लगाये रखकर, अविचल भाव से भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह अवश्य मेरे पास पहुँच जाता है।

९. मनुष्य को चाहिए कि परम पुरुष का ध्यान सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, लघुतर से लघुतम, सबों के पालक, समस्त भौतिक बुद्धि से परे, अचिन्त्य तथा नित्य पुरुष के रूप में करे। वे सूर्य की भाँति तेजस्वी हैं और दिव्य होने के कारण इस भौतिक प्रकृति से परे हैं।

१०. मृत्यु के समय जो व्यक्ति अविचलित मन से योग-शक्ति द्वारा, अपने प्राण को भौहों के मध्य में स्थिर कर लेता है और पूर्ण भक्ति के साथ परमेश्वर के स्मरण में अपने को लगाता है, वह निश्चित रूप से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्राप्त होता है।

११. जो वेदों के ज्ञाता हैं, जो ॐकार का उच्चारण करते हैं, और जो संन्यास-आश्रम के महान् मुनि हैं, वे ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। ऐसी सिद्धि की इच्छा करने वाले को ब्रह्मचर्य-व्रत का आचरण करना होता है। अब मैं तुम्हें वह विधि बताऊँगा, जिससे कोई व्यक्ति मुक्ति-लाभ कर सकता है।



१२. समस्त इन्द्रिय-क्रियाओं से विरक्ति को योग की स्थिति (योगधारण) कहा जाता है। इन्द्रियों के समस्त द्वारों को बन्द करके तथा मन को हृदय में और प्राण वायु को सिर के ऊपरी भाग में स्थापित करके मनुष्य अपने आप को योग में स्थापित करता है।

१३. इस योग में स्थित होकर तथा अक्षरों के परम संयोग, ॐकार का उच्चारण करते हुए, यदि कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन करता है और अपने शरीर का त्याग करता है, तो वह निश्चित रूप से भगवद्धाम को जाता है।

१४. हे पृथापुत्र, जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह मेरी भक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहता है।

१५. महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, मुझे प्राप्त करने के पश्चात् कभी भी इस दुखों से पूर्ण क्षणिक जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।

श्री भीष्मदेव को इच्छानुसार शरीर त्याग करने की सिद्धि प्राप्त थी और मृत्यु के समय अपने समक्ष अपने अभीष्ट श्रीकृष्ण को पाकर वे धन्य थे। अतः उन्होंने अपने खुले हुए नेत्र उन पर टिका दिये। वे अपने प्रगाढ़ प्रेम के कारण श्रीकृष्ण को दीर्घ काल तक देखना चाह रहे थे। चूँकि वे शुद्ध भक्त थे, अतएव उन्हें योग की विशद् क्रियाओं की आवश्यकता नहीं थी। सिद्धि के लिए सरल भक्तियोग पर्याप्त है। अतएव भीष्मदेव की हार्दिक इच्छा भगवान् कृष्ण को साक्षात् देखने की थी, जो परम प्रेय थे और भगवत्कृपा से श्री भीष्मदेव को अपनी अन्तिम सास लेते समय यह सुअवसर प्राप्त हुआ।

विशुद्धया धारणया हताशुभ-

स्तदीक्षयैवाशु गतायुधश्रमः ।

निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-

स्तुष्टाव जन्यं विसृजन्नार्दनम् ॥ ३१ ॥

**शब्दार्थ**

विशुद्धया—विशुद्ध; धारणया—ध्यान से; हत-अशुभ;—भौतिक अस्तित्व के अशुभ गुणों को जिसने कम कर दिया है; तत्—उसको; ईक्षया—देखने से; एव—केवल; आशु—तुरन्त; गता—गये हुए; युध—तीरों से; श्रमः—थकान;

निवृत्त—रोका जाकर; सर्व—समस्त; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; वृत्ति—कार्यकलाप; विभ्रमः—लित होकर; तुष्टाव—उसने प्रार्थना की; जन्यम्—भौतिक आश्रय; विसृजन्—त्यागते हुए; जनार्दनम्—जीवों के नियन्ता को।

शुद्ध ध्यान द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को देखते हुए, वे तुरन्त समस्त भौतिक अशुभ अवस्थाओं से और तीरों के घाव से होनेवाली शारीरिक पीड़ा से मुक्त हो गये। इस प्रकार उनकी सारी इन्द्रियों के कार्यकलाप रूक गये और उन्होंने शरीर को त्यागते हुए समस्त जीवों के नियन्ता की दिव्य भाव से स्तुति की।

तात्पर्य : यह भौतिक शरीर उस भौतिक शक्ति का उपहार है, जिसे माया कहते हैं। भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाने के कारण मनुष्य भौतिक शरीर को अपना स्वरूप समझने लगता है। भीष्मदेव जैसे भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए यह माया भगवान् के आते ही दूर हो गई। भगवान् कृष्ण सूर्य के समान हैं और भ्रामक बहिरंगा भौतिक शक्ति अंधकार तुल्य है। सूर्य की उपस्थिति में यह सम्भव नहीं कि अंधकार टिक सके। अतएव भगवान् कृष्ण का आगमन होते ही सारा भौतिक कल्मष पूर्ण रूप से दूर हो गया और भीष्मदेव पदार्थ के साथ अशुद्ध इन्द्रियाँ के कार्यों को रोककर दिव्य पद को प्राप्त होने में समर्थ हो सके। आत्मा मूलतः शुद्ध होता है और इसीलिए इन्द्रियाँ भी शुद्ध ही होती हैं। भौतिक कल्मष से ही इन्द्रियाँ अपूर्णता तथा अशुद्धता से काम करने लगती हैं। किन्तु परम शुद्ध भगवान् कृष्ण का संसर्ग प्राप्त होते ही इन्द्रियाँ पुनः भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाती हैं। भीष्मदेव को अपना शरीर त्यागने के पूर्व भगवान् की उपस्थिति के कारण ही ऐसी दिव्य अवस्था प्राप्त हो सकी थी। भगवान् सभी जीवों के नियन्ता उपकारी हैं। समस्त वेदों का यही निर्णय है। वे परम शाश्वत तथा समस्त शाश्वत जीवों में परम पुरुष हैं।\* तथा वे ही सभी प्रकार के जीवों की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने परम भक्त श्रीभीष्मदेव की दिव्य इच्छाओं को पूरा करने की सारी सुविधाएँ प्रदान कीं। तब भीष्मदेव ने इस प्रकार प्रार्थना की।

श्रीभीष्म उवाच

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा

भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूमि ।  
 स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तु  
 प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥ ३२ ॥

### शब्दार्थ

श्री-भीष्मः उवाच—श्री भीष्मदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; मतिः—सोचना, अनुभव करना तथा चाहना;  
 उपकल्पिता—नियुक्त करना; वितृष्णा—समस्त इन्द्रिय इच्छाओं से मुक्त; भगवति—भगवान् में; सात्वत-पुङ्गवे—भक्तों  
 के नेता में; विभूमि—परम; स्व-सुखम्—आत्म-तोष; उपगते—प्राप्त हुए; क्वचित्—कभी-कभी; विहर्तुम्—दिव्य  
 आनन्द से; प्रकृतिम्—भौतिक जगत में; उपेयुषि—स्वीकार करें; यत्-भव—जिनसे सृष्टि; प्रवाहः—बनी है तथा विनष्ट  
 होती है।

footnote start here

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।

एको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥

(कठोपनिषद्)

footnote ends here

भीष्मदेव ने कहा : अभी तक मैं जो सोचता, जो अनुभव करता तथा जो चाहता था, वह विभिन्न विषयों तथा वृत्तियों के अधीन था, किन्तु अब मुझे उसे परम शक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण में लगाने दो। वे सदैव आत्मतुष्ट रहनेवाले हैं, किन्तु कभी-कभी भक्तों के नायक होने के कारण, इस भौतिक जगत में अवतरित होकर दिव्य आनन्द-लाभ करते हैं, यद्यपि यह सारा भौतिक जगत उन्हीं के द्वारा सृजित है।

तात्पर्य : चूँकि भीष्मदेव एक राजपुरुष, कुरुवंश के मुखिया, महान सेनापति तथा क्षत्रियों के अग्रणी थे, अतएव उनका मन अनेक विषयों में बँटा रहता था और उनका चिन्तन, अनुभूति तथा उनकी इच्छाएँ विभिन्न बातों में लगी रहती थीं। अब शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से, वे परम पुरुष भगवान् कृष्ण पर ही सारे चिन्तन, अनुभूति तथा इच्छाओं को केन्द्रित करना चाहते थे। यहाँ पर उन्हें (श्रीकृष्ण को) भक्तों के नायक तथा सर्वशक्तिमान कहे गये हैं। यद्यपि भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं, लेकिन वे अपने शुद्ध भक्तों को भक्तिमय सेवा का वरदान देने के निमित्त इस धरा पर स्वयं अवतरित होते हैं। कभी वे भगवान् कृष्ण के रूप में, जो वे स्वयं हैं और कभी

भगवान् चैतन्य के रूप में अवतरित होते हैं। दोनों ही शुद्ध भक्तों के नायक हैं। भगवान् के शुद्ध भक्तों में भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं रहती। अतएव वे *सात्वत* कहलाते हैं और भगवान् ऐसे *सात्वतों* में अग्रणी हैं। इसीलिए भीष्मदेव को अन्य कोई इच्छा नहीं हुई। जब तक मनुष्य सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं से शुद्ध नहीं हो लेता, तब तक भगवान् उसके अगुवा नहीं बनते। इच्छाओं को मिटाया नहीं जा सकता, लेकिन उन्हें केवल शुद्ध करना होता है। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने पुष्टि की है कि वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लीन रहनेवाले शुद्ध भक्त को उसके हृदय के भीतर से उपदेश देते हैं। ऐसा उपदेश किसी भौतिक हेतु के लिए नहीं, अपितु अपने घर, भगवान् के धाम वापस जाने के लिए दिया जाता है। (*भगवद्गीता*, १०.१०) भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए, जो भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व दिखाना चाहता है, न केवल उसकी इच्छा पूर्ति करके उसके कार्यों के साक्षी बनते हैं, अपितु वे अभक्तों को भगवद्धाम जाने के लिए कभी कोई उपदेश नहीं देते। विभिन्न जीवों, भक्तों तथा अभक्तों, के साथ भगवान् के व्यवहार में यही अन्तर है। वे समस्त जीवों के अग्रणी हैं, जिस प्रकार राजा बन्दियों तथा स्वतन्त्र नागरिकों का समान रूप से शासक होता है। लेकिन भक्तों तथा अभक्तों के प्रति उनके व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हैं। अभक्त लोग भगवान् से कभी कोई उपदेश ग्रहण करने की परवाह नहीं करते, इसलिए वे उनके विषय में मौन बने रहते हैं, यद्यपि वे उनके सारे कार्यों के साक्षी बनकर उन्हें अच्छा या बुरा फल देते रहते हैं। भक्तगण इस भौतिक अच्छाई-बुराई से परे होते हैं। वे अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होते रहते हैं, अतएव उन्हें किसी प्रकार की भौतिक इच्छा नहीं रहती। भक्त यह भी जानता है कि श्रीकृष्ण ही आदि नारायण हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने पूर्णांश से कारणोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट होते हैं, जो सारी भौतिक सृष्टि के मूल स्रोत हैं। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के साथ संगति करने को भी इच्छुक रहते हैं और उन्हीं के लिए वे इस धरा पर अवतार लेकर उन्हें जीवन-दान देते हैं। भगवान् खुद की इच्छा से प्रकट होते हैं। वे प्रकृति की परिस्थितियों से बाध्य नहीं होते। अतएव उन्हें *विभु* या सर्व-शक्तिमान कहा गया है, क्योंकि वे प्रकृति के नियमों से कभी नहीं बँधते।

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं  
 रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।  
 वपुरलककुलावृताननाब्जं  
 विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

त्रि-भुवन—तीनों लोक; कमनम्—अभीष्ट; तमाल-वर्णम्—तमालवृक्ष जैसे नीले रंगवाले; रवि-कर—सूर्य की किरणों वाला; गौर—सुनहरा रंग; वराम्बरम्—चमचमाता वस्त्र; दधाने—पहने हुए; वपुः—शरीर; अलक-कुल-आवृत—चन्दन की रचना से आवृत; अनन-अब्जम्—कमल के समान मुख; विजय-सखे—अर्जुन के मित्र में; रतिः अस्तु—आसक्ति हो; मे—मेरी; अनवद्या—फल की इच्छा से रहित, निष्काम ।

श्रीकृष्ण अर्जुन के घनिष्ठ मित्र हैं। वे इस धरा पर अपने दिव्य शरीर सहित प्रकट हुए हैं, जो तमाल वृक्ष सदृश नीले रंग का है। उनका शरीर तीनों लोकों ( उच्च, मध्य तथा अधोलोक ) में हर एक को आकृष्ट करनेवाला है। उनका चमचमाता पीताम्बर तथा चन्दनचर्चित मुखकमल मेरे आकर्षण का विषय बने और मैं किसी प्रकार के फल की इच्छा न करूँ।

तात्पर्य : जब श्रीकृष्ण स्वेच्छा से इस धरा पर प्रकट होते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के माध्यम से ऐसा करते हैं। उनके दिव्य शरीर के आकर्षक अंगों को देखने की इच्छा तीनों लोकों अर्थात् ग्रह मण्डल के उच्चस्थ, मध्यस्थ तथा अधोलोको में होती है। ब्रह्माण्ड भर में कहीं भी भगवान् कृष्ण जैसे सुन्दर आकृति के शरीर वाला कोई नहीं है। अतएव उनके दिव्य शरीर को भौतिक रूप से निर्मित किसी वस्तु से कुछ लेनादेना नहीं है। अर्जुन को यहाँ विजेता कहा गया है और कृष्ण को उसके घनिष्ठ मित्र। कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद शरशय्या पर लेटे भीष्मदेव भगवान् कृष्ण की वेशभूषा का स्मरण कर रहे हैं जिसे वे अर्जुन के सारथी रूप में धारण किए हुए थे। जब अर्जुन तथा भीष्म के मध्य युद्ध चल रहा था, तो भीष्म का ध्यान कृष्ण की चमचमाती वेश-भूषा की ओर आकर्षित हुआ था और इस तरह वे अप्रत्यक्ष रूप में अपने तथाकथित शत्रु अर्जुन की प्रशंसा, कृष्ण को अपने मित्र रूप में प्राप्त करने के लिए कर रहे थे। अर्जुन सदा ही विजेता रहा क्योंकि भगवान् उसके सखा थे। भीष्मदेव इस अवसर का लाभ भगवान् को *विजय-सखे* ( अर्जुन

के मित्र) सम्बोधित करके उठाते हैं, क्योंकि जब भगवान् को उनके भक्तों के साथ जोड़कर पुकारा जाता है, तो वे अतीव प्रसन्न होते हैं, क्योंकि भक्तगण उनसे विभिन्न दिव्य रसों से बँधे हुए होते हैं। जब कृष्ण अर्जुन के सारथी थे, तो सूर्य की किरणों भगवान् के वस्त्रों पर पड़कर चमक रही थीं और ऐसी किरणों के परावर्तन से उत्पन्न सुन्दर रंग भीष्मदेव से भुलाये भी नहीं भूल रहा था। योद्धा के रूप में वे वीर रस में कृष्ण से अपने सम्बन्ध का आस्वाद कर रहे थे। विभिन्न रसों में किसी भी रस में भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध होने पर भक्त सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। अल्पज्ञ संसारी लोग जो भगवान् के दिव्य रूप में अपने को सम्बन्धित दिखाना चाहते हैं, वे सीधे ही ब्रजधाम की गोपियों का अनुकरण करते हुए माधुर्य रस का दिखावा करते हैं। भगवान् के साथ ऐसा हल्का प्रेम-सम्बन्ध संसारी व्यक्ति की कुत्सित भावना का द्योतक है, क्योंकि जिसने भगवान् के साथ माधुर्य रस का आनन्द उठा लिया है, वह संसारी शृंगार रस में लिप्त नहीं होता, क्योंकि इसकी भर्त्सना संसारी नीतिशास्त्र ने भी की है। भगवान् के साथ आत्म-विशेष का नित्य सम्बन्ध क्रमानुसार विकसित होता है। परमेश्वर के साथ जीव का सही सम्बन्ध पाँच प्रमुख रसों में से किसी एक में हो सकता है और असली भक्त के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भीष्मदेव इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। तो हमें ध्यान देकर यह समझना है कि वे महान सेनानायक भगवान् से किस प्रकार दिव्य रूप से जुड़े हुए हैं।

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-

कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।

मम निशितशरैर्विभिद्यमान-

त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥ ३४ ॥

**शब्दार्थ**

युधि—युद्ध-भूमि में; तुरग—घोड़े; रजः—धूल; विधूम्र—धुएँ के रंग में परिणत; विष्वक्—लहराते; कच—बाल; लुलित—बिखरे हुए; श्रमवारि—पसीना; अलङ्कृत—सुशोभित; आस्ये—मुख पर; मम—मेरे; निशित—नुकीले; शरैः—वाणों से; विभिद्यमान—बिंधा हुआ; त्वचि—खाल में; विलसत्—आनन्द लेते हुए; कवचे—कवच में; अस्तु—हो; कृष्ण—श्रीकृष्ण में; आत्मा—मन।

युद्धक्षेत्र में ( जहाँ मित्रतावश श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ रहे थे ) भगवान् कृष्ण के लहराते केश घोड़ों की टापों से उठी धूल से धूसरित हो गये थे तथा श्रम के कारण उनका मुख-मण्डल पसीने की बूंदों से भीग गया था। मेरे तीक्ष्ण बाणों से बने घावों से इन अलंकरणों की शोभा उन्हें अच्छी लग रही थी। मेरा मन उन्हीं श्रीकृष्ण के पास चले।

तात्पर्य : भगवान् शाश्वतता, ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप हैं। अतः जब भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा पाँच प्रमुख सम्बन्धों ( रसों ) अर्थात् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य में से किसी एक में वास्तविक प्रेम तथा अनुराग से की जाती है, तो भगवान् उसे ग्रहण करते हैं। श्री भीष्मदेव दास्य भाव से भगवान् के महान भक्त हैं। अतएव भगवान् के दिव्य शरीर पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा, किसी अन्य भक्त द्वारा उन पर की गई कोमल गुलाब के पुष्पों की वर्षा के समान है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के साथ भीष्मदेव ने जो कुछ किया था, उसके लिए वे पश्चात्ताप कर रहे हैं। लेकिन वास्तविक रूप में अपने दिव्य शरीर के कारण, भगवान् को तनिक भी पीड़ा नहीं हुई थी। उनका शरीर पदार्थ नहीं है। साक्षात् वे तथा उनका शरीर दोनों पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हैं। आत्मा को न तो छेदा जा सकता है, न जलाया या सुखाया या गीला किया जा सकता है। इसकी विशद व्याख्या भगवद्गीता में की गई है। स्कन्द पुराण में भी ऐसा ही कथन मिलता है। उसमें कहा गया है कि आत्मा सदैव कल्मषहीन तथा अविनाशी है। न तो उसे कष्ट दिया जा सकता है, न ही उसे सुखाया जा सकता है। जब भगवान् विष्णु अवतरित होकर हमारे समक्ष प्रकट होते हैं तब वे बद्धजीवों के समान भौतिक बन्धन से जकड़े हुए लगते हैं, लेकिन वे ऐसा असुरों या अविश्वासियों को मोहित करने के लिए करते हैं, जो भगवान् को उनके अवतार लेने के प्रारम्भ से ही मारने की ताक में रहते हैं। कंस कृष्ण को और रावण राम को मारना चाह रहे थे, क्योंकि मूर्खतावश वे इस तथ्य से अनजान थे कि भगवान् कभी मारे नहीं जा सकते, क्योंकि आत्मा का कभी विनाश नहीं होता।

अतएव भीष्मदेव द्वारा भगवान् कृष्ण के शरीर को बाणों से बेधना, अभक्त नास्तिकों के लिए एक मोहजनक समस्या है, लेकिन जो भक्त या मुक्तात्मा हैं, वे मोहित नहीं होते।

भीष्मदेव ने भगवान् की सर्व-करुणामय मुद्रा की प्रशंसा की, क्योंकि उन्होंने अर्जुन को अकेले नहीं छोड़ा, यद्यपि भीष्मदेव के बाणों से वे विचलित थे। न ही उन्हें भीष्म की मृत्युशय्या के निकट आने में कोई संकोच हुआ, यद्यपि भीष्म ने युद्धभूमि में उनके साथ दुर्व्यवहार किया था। इस दशा में भीष्म का पश्चात्ताप तथा भगवान् की करुणामय मुद्रा, दोनों ही अद्वितीय हैं।

महान आचार्य तथा भगवान् के माधुर्य रस के भक्त श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्व की बात कही है। वे कहते हैं कि भीष्मदेव के तीक्ष्ण बाणों से भगवान् के शरीर में उत्पन्न हुए घाव उन्हें उसी प्रकार आनन्ददायक लग रहे थे, जिस प्रकार प्रबल कामेच्छा से भगवान् के शरीर में प्रेमिका की चुटकी। प्रेमिका द्वारा इस प्रकार चिकोटी काटा जाना, चाहे शरीर में घाव ही क्यों न करे, शत्रुता का प्रतीक नहीं माना जाता। अतएव भगवान् तथा उनके भक्त श्री भीष्मदेव के बीच जो युद्ध हुआ, वह दिव्य आनन्द का आदान-प्रदान था। वह किसी भी प्रकार से संसारी न था। इसके अतिरिक्त, चूँकि भगवान् का शरीर तथा भगवान् अभिन्न हैं, अतएव परम पूर्ण शरीर में घाव होने की कोई सम्भावना नहीं थी। तीव्र बाणों के द्वारा उत्पन्न घाव सामान्य व्यक्ति को चकरानेवाले हैं, लेकिन जिसको थोड़ा भी परम ज्ञान है, वह इसे शौर्य का दिव्य आदान-प्रदान समझेगा। भीष्मदेव के तीक्ष्ण बाणों से उत्पन्न घावों से भगवान् परम प्रसन्न थे। *विभिद्यमान* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् की त्वचा भगवान् से भिन्न नहीं है। चूँकि हमारी त्वचा हमारे आत्मा से भिन्न है, अतएव हमारे लिए *विभिद्यमान* अथवा “रगड़ खाया” एवं “कटा” शब्द अत्यन्त उपयुक्त होगा। दिव्य आनन्द कई तरह का होता है और इस जगत में जितने भी कार्य-कलाप हैं, वे दिव्य आनन्द के उल्टे प्रतिबिम्ब मात्र हैं। चूँकि इस संसार की हर वस्तु सांसारिक है, अतएव वह उन्माद से पूर्ण है, लेकिन परम जगत में प्रत्येक वस्तु एक ही परम स्वभाव की होने के कारण वहाँ तरह-तरह के उन्माद से रहित भोग हैं। भगवान् को अपने परम



भक्त भीष्मदेव द्वारा उत्पन्न घाव आनन्द प्रदान कर रहे थे और चूँकि भीष्मदेव वीर रस के भक्त हैं, अतएव वे उसी क्षत-विक्षत दशा वाले कृष्ण पर अपना ध्यान स्थिर करते हैं।

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये  
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।  
स्थितवति परसैनिकायुरक्षणा  
हतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥ ३५ ॥

### शब्दार्थ

सपदि—युद्ध-भूमि में; सखि-वचः—मित्र का आदेश; निशम्य—सुनकर; मध्ये—बीच में; निज—अपना; परयोः—तथा विपक्षीदल; बलयोः—शक्ति; रथम्—रथ में; निवेश्य—प्रविष्ट होकर; स्थितवति—वहाँ रुक कर; पर-सैनिक—विपक्षी दल के सैनिकों की; आयुः—आयु, उम्र; अक्षणा—देखने से; हतवति—कम करने का कार्य, छीन लेना; पार्थ—पृथा-पुत्र अर्जुन का; सखे—मित्र में; रतिः—घनिष्ठ सम्बन्ध, प्रीति; मम—मेरा; अस्तु—हो।

अपने मित्र के आदेश का पालन करते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन तथा दुर्योधन के सैनिकों के बीच में प्रविष्ट हो गये और वहाँ स्थित होकर उन्होंने अपनी कृपापूर्ण चितवन से विरोधी पक्ष की आयु क्षीण कर दी। यह सब शत्रु पर उनके दृष्टिपात करने मात्र से ही हो गया। मेरा मन उन कृष्ण में स्थिर हो।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१.२१-२५) में अर्जुन ने अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण को आज्ञा दी कि वे उसके रथ को सैनिकों के व्यूह के बीच में ले चलें। उसने उन्हें आज्ञा दी कि वे वहाँ तब तक ठहरें जब तक वह युद्ध में आये हुये उन शत्रुओं का निरीक्षण पूरा न कर ले, जिनसे उसे लड़ना था। जब भगवान् से यह कहा गया, तो उन्होंने झट-से वैसा कर दिया, मानो वे कोई आज्ञापालक हों। भगवान् ने विपक्षी-दल के सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की ओर संकेत करते हुए कहा, “ये रहे भीष्म, ये रहे द्रोण इत्यादि, इत्यादि।” परम पुरुष होने के कारण भगवान् न तो किसी के आज्ञापालक हैं, न सन्देशवाहक, चाहे वह जो भी हो। लेकिन अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा तथा वत्सलता के कारण, कभी-कभी वे अपने भक्त के आदेश का पालन एक तत्पर दास की तरह करते हैं। अपने भक्त के आदेश का पालन करते हुए वे उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार पिता अपने नन्हें बालक के आदेश को पूरा करने से प्रसन्न होता है। यह तभी सम्भव है जब

भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य शुद्ध दिव्य प्रेम हो और भीष्मदेव इस तथ्य से अवगत थे। इसीलिए उन्होंने भगवान् को 'पार्थ-सखे' कह कर सम्बोधित किया।

भगवान् ने अपनी कृपापूर्ण चितवन से विपक्षियों की आयु क्षीण कर दी। कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में सम्मिलित सारे योद्धाओं को मोक्ष-लाभ हो सका, क्योंकि मृत्यु के समय उन्होंने साक्षात् भगवान् का दर्शन किया था। अतएव अर्जुन के शत्रुओं की आयु को क्षीण करने का अर्थ यह नहीं होता कि कृष्ण अर्जुन का पक्ष ले रहे थे। वस्तुतः वे विपक्षियों पर कृपालु थे, क्योंकि यदि वे सामान्य तौर पर घर में मरे होते, तो उन्हें मोक्ष-लाभ न हुआ होता। यहाँ उन्हें मृत्यु के समय भगवान् के दर्शन करने का तथा भौतिक जीवन से मुक्ति पाने का अवसर मिला था। अतएव भगवान् सर्व-मंगलमय हैं और वे जो कुछ करते हैं, वह सबों की भलाई के लिए होता है। ऊपर-ऊपर से यह सब उनके घनिष्ठ मित्र अर्जुन की विजय के लिए प्रतीत हो रहा था, लेकिन वास्तविक रूप में यह अर्जुन के शत्रुओं की भलाई के लिए था। ऐसे हैं भगवान् के दिव्य कार्य-कलाप और जो भी इन्हें समझता है, वह भी इस भौतिक शरीर का त्याग करने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् किसी भी हालत में कोई गलत कार्य नहीं करते, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं और सर्वदा सबों के लिए मंगलमय हैं।

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य  
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।

कुमतिमहरदात्मविद्यया य-  
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥ ३६ ॥

### शब्दार्थ

व्यवहित—दूर खड़े; पृतना—सैनिकों के; मुखम्—मुँह को; निरीक्ष्य—देखकर; स्व-जन—सम्बन्धीगण; वधात्—मारने से; विमुखस्य—हिचकनेवाले का; दोष-बुद्ध्या—दूषित बुद्धि से; कुमतिम्—अल्पज्ञान; अहरत्—समूल नष्ट किया; आत्म-विद्यया—दिव्य ज्ञान से; यः—जो; चरण—चरणों का; रतिः—आकर्षण; परमस्य—परम का; तस्य—उस; मे—मेरा; अस्तु—हो।

जब युद्धक्षेत्र में अर्जुन अपने समक्ष सैनिकों तथा सेनापतियों को देखकर अज्ञान से कलुषित हो रहा लग रहा था, तो भगवान् ने उसके अज्ञान को दिव्य ज्ञान प्रदान करके समूल नष्ट कर दिया। उनके चरणकमल सदैव मेरे आकर्षण के लक्ष्य बने रहें।

तात्पर्य : राजाओं तथा सेनापतियों को लड़नेवाले सैनिकों के समक्ष खड़ा होना पड़ता था। वास्तविक युद्ध की प्रणाली यही है। तब राजा तथा सेनापति आज के तथाकथित राष्ट्रपति या रक्षा-मंत्री जैसे नहीं होते थे। जब बेचारे सैनिक या भाड़े के सिपाही एक दूसरे से आमने-सामने लड़ रहे होते थे, तो राजा या सेनापति घर में बैठे नहीं रह सकते थे। यह आधुनिक प्रजातन्त्र का विधान हो सकता है, लेकिन जब वास्तविक राजतन्त्र था तो सम्राट ऐसे नहीं होते थे जो योग्यता पर विचार किये बिना चुने जानेवाले कायरों जैसे हों। जैसाकि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल से स्पष्ट है, दोनों पक्षों के कार्यकारी प्रधान यथा द्रोण, भीष्म, अर्जुन तथा दुर्योधन सोये हुए नहीं थे, वे सभी ऐसे युद्ध में भाग ले रहे थे, जो लोक-आवास के स्थानों से कहीं दूर संपन्न होने जा रहा था। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्दोष नागरिक प्रतिद्वंद्वी राजसी दलों के युद्ध के प्रभावों से बचे रहते थे। ऐसे युद्ध में जो कुछ हो रहा होता था, उसे नागरिकों द्वारा देखे जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्हें तो अपनी आय का चौथा भाग शासक को देना होता था, चाहे वह अर्जुन हो या दुर्योधन। कुरुक्षेत्र के युद्ध में दोनों दलों के सेनानायक आमने-सामने खड़े थे। अर्जुन ने उन्हें अत्यन्त करुणा से देखा तथा पछताने लगा कि राज्य-लिप्सा के कारण वह अपने स्वजनों को ही मार डालेगा। वह दुर्योधन द्वारा बनाये गये भयानक सैन्य-व्यूह से रंच भर भी भयभीत नहीं था, लेकिन भगवान् का दयालु भक्त होने के कारण यह स्वाभाविक था कि उसे सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य होता, अतएव उसने निश्चय किया कि वह सांसारिक वैभव के लिए युद्ध नहीं करेगा। लेकिन यह तो अल्प ज्ञान के कारण था; इसीलिए कहा गया है कि उसकी बुद्धि कलुषित हो गई थी। उसकी बुद्धि को कभी भी कलुषित नहीं होना चाहिए था, क्योंकि वह भगवान् का भक्त तथा सखा था, जैसा कि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय से स्पष्ट है। निश्चय ही अर्जुन की बुद्धि कुलुषित हो गई थी, अन्यथा देहात्मबुद्धि के द्वारा भौतिक बन्धन में पड़े कलुषित बद्धजीवों के कल्याण के

लिए *भगवद्गीता* का उपदेश देने का अवसर कैसे प्राप्त हुआ होता? *भगवद्गीता* संसार के बद्धजीवों के उद्धार के लिए सुनाई गई, जिससे वे शरीर को मिथ्या ही आत्मा न मान बैठें और परमेश्वर के साथ आत्मा के नित्य सम्बन्ध को पुनः स्थापित कर सकें। भगवान् द्वारा *आत्म-विद्या* का प्रवचन, मुख्य रूप से ब्रह्माण्ड के सभी भागों के समस्त व्यक्तियों के लाभ के लिए हुआ था।

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-

मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।

धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-

ह्रिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥ ३७ ॥

**शब्दार्थ**

स्व-निगमम्—अपनी सत्यनिष्ठा; अपहाय—निरस्त करने के लिए; मत्-प्रतिज्ञाम्—मेरी प्रतिज्ञा; ऋतम्—वास्तविक; अधि—अधिक; कर्तुम्—करने के लिए; अवप्लुतः—नीचे उतरते हुए; रथ-स्थः—रथ से; धृत—ग्रहण करके; रथ—रथ; चरणः—पहिया, चक्र; अभ्ययात्—तेजी से चले; चलद्गुः—पृथ्वी को पद-दलित करते; हरिः—सिंह; इव—सदृश; हन्तुम्—मारने के लिए; इभम्—हाथी को; गत—एक ओर छोड़कर; उत्तरीयः—उत्तरीय, ओढ़ने का वस्त्र, दुपट्टा।

मेरी इच्छा को पूरी करते हुए तथा अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर, वे रथ से नीचे उतर आये, उसका पहिया उठा लिया और तेजी से मेरी ओर दौड़े, जिस तरह कोई सिंह किसी हाथी को मारने के लिए दौड़ पड़ता है। इसमें उनका उत्तरीय वस्त्र भी रास्ते में गिर गया।

**तात्पर्य :** यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध सैन्य-सिद्धान्तों पर लड़ा गया था, लेकिन साथ ही साथ में खेल जैसी भावना भी थी, मानो वह दो मित्रों के बीच होनेवाला युद्ध हो। दुर्योधन ने भीष्मदेव की आलोचना की और दोषारोपण किया कि वे अर्जुन से पितृवत् स्नेह के कारण उसे मारने से हिचकते हैं। एक क्षत्रिय युद्ध के सिद्धान्त पर किया गया अपमान सह नहीं सकता। अतः भीष्मदेव ने प्रतिज्ञा की कि अगले दिन वे पाँचों पाण्डवों का वध अपने विशिष्ट हथियार से कर देंगे। इससे दुर्योधन संतुष्ट हो गया और उसने अपने पास वह तीर ले लिये, जिसे वह अगले दिन युद्ध के समय देगा। लेकिन अर्जुन ने चाल करके दुर्योधन से वे तीर प्राप्त कर लिये और भीष्मदेव को यह समझते देर न लगी कि यह भगवान् कृष्ण की चाल है। अतः भीष्मदेव ने प्रतिज्ञा की कि अगले दिन कृष्ण को अस्त्र उठाना ही पड़ेगा, अन्यथा उनका मित्र अर्जुन मारा जाएगा। दूसरे दिन

भीष्मदेव ने इतना भयानक युद्ध किया कि अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही संकट में पड़ गये। अर्जुन लगभग हार ही चुका था; परिस्थिति इतनी नाजुक थी कि वह भीष्मदेव द्वारा अगले ही क्षण मारा जाने वाला था। उस समय भगवान् कृष्ण ने भक्त भीष्म की प्रतिज्ञा को रखकर, उन्हें प्रसन्न करना चाहा, क्योंकि यह उनकी अपनी प्रतिज्ञा से अधिक महत्त्वपूर्ण था। ऊपर से ऐसा लगता है कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी। उन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व प्रतिज्ञा की थी कि मैं कोई अस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा और किसी भी पक्ष पर अपना बल नहीं आजमाऊँगा। लेकिन अर्जुन की रक्षा करने के लिए वे रथ से उतरे, रथ का पहिया उठाया और क्रुद्ध होकर भीष्मदेव पर तेजी से इस तरह झपटे, जैसे सिंह हाथी को मारने झपटता है। इससे रास्ते में उनका अंगवस्त्र गिर गया और क्रोधवश उन्हें इसका होश तक न रहा कि रास्ते में उनसे क्या गिर गया। तब भीष्म ने तुरन्त हथियार डाल दिये और स्वयं अपने प्रिय प्रभु श्रीकृष्ण द्वारा मारे जाने के लिए खड़े हो गये। उस दिन का युद्ध उसी क्षण समाप्त हो गया और अर्जुन की प्राण-रक्षा हो सकी। निस्सन्देह अर्जुन की मृत्यु की कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि साक्षात् भगवान् रथारूढ़ थे, लेकिन चूँकि भीष्मदेव चाह रहे थे कि श्रीकृष्ण अपने मित्र को बचाने के लिए हथियार उठाए, अतएव भगवान् ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि अर्जुन की मृत्यु सन्निकट जान पड़ी। वे भीष्मदेव के समक्ष यह दिखाने के लिए खड़े रहे कि भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी हो गई और उन्होंने पहिया उठा लिया।

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः

क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।

प्रसभमभिससार मद्बुधार्थं

स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥ ३८ ॥

**शब्दार्थ**

शित—पैना; विशिख—बाण; हतः—से घायल; विशीर्ण-दंशः—छिन्न हुआ कवच; क्षतज—घावों से; परिप्लुतः—रक्त से सने; आततायिनः—महान आक्रामक; मे—मेरा; प्रसभम्—क्रुद्ध मुद्रा में; अभिससार—चलने लगे; मत्-वध-अर्थम्—मुझे मारने के लिए; सः—वे; भवतु—हो; मे—मेरे; भगवान्—भगवान्; गतिः—लक्ष्य; मुकुन्दः—मोक्षदाता ।

भगवान् श्रीकृष्ण जो मोक्ष के दाता हैं, वे मेरे अनन्तिम गंतव्य हों। युद्ध-क्षेत्र में उन्होंने मेरे ऊपर आक्रमण किया, मानो वे मेरे पैने बाणों से बने घावों के कारण क्रुद्ध हो गये हों। उनका कवच छितरा गया था और उनका शरीर खून से सन गया था।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र के युद्ध-क्षेत्र में भगवान् कृष्ण तथा भीष्मदेव के आपसी व्यवहार अत्यन्त रोचक हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की गतिविधियाँ अर्जुन के प्रति पक्षपातपूर्ण और भीष्म के प्रति शत्रुतापूर्ण लग रही थी, लेकिन वास्तव में यह सब कुछ महान् भक्त भीष्मदेव के प्रति विशेष अनुग्रह दिखाने के लिए था। ऐसे आचरणों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि भक्त शत्रु का अभिनय करते हुए भी भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। परम पूर्ण होने के कारण भगवान् अपने भक्त की शत्रु-वेश में भी सेवा ग्रहण कर सकते हैं। परमेश्वर का कोई शत्रु नहीं हो सकता, न ही कोई तथाकथित शत्रु उन्हें हानि पहुँचा सकता है, क्योंकि वे अजित हैं। तो भी उन्हें आनन्द आता है, जब उनका कोई शुद्ध भक्त उन पर शत्रु की भाँति प्रहार करता है या उच्च पद से उनका आलम्ब करता है, यद्यपि उनसे श्रेष्ठ कोई हो ही नहीं सकता। भक्त तथा भगवान् के मध्य ये कतिपय दिव्य आदान-प्रदान के व्यवहार हैं। किन्तु जिन्हें शुद्ध भक्ति की कोई जानकारी नहीं है वे ऐसे आचरणों के रहस्य को नहीं जान सकते। भीष्मदेव ने एक वीर योद्धा की भूमिका निभाई और उन्होंने जान-बूझकर भगवान् के शरीर को बाणों से वींध कर दिया, जिससे सामान्य लोगों की दृष्टि में भगवान् घायल प्रतीत तो हुए, लेकिन वास्तव में यह अभक्तों को मोहग्रस्त करने के लिए था। पूर्णतः दिव्य शरीर कभी घायल नहीं किया जा सकता और भक्त कभी भी भगवान् का शत्रु नहीं बन सकता। यदि ऐसा ही होता, तो भीष्मदेव उन्हीं भगवान् को अपने जीवन के अनन्तिम गंतव्य के रूप में न चाहे होते। यदि भीष्मदेव कृष्ण के शत्रु होते, तो कृष्ण बिना हिले-डुले ही उनका विनाश कर देते। उन्हें रक्त से सने घाव लेकर भीष्मदेव के समक्ष आने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन उन्होंने ऐसा किया, क्योंकि यह योद्धा भक्त अपने द्वारा उत्पन्न घावों से सुशोभित भगवान् के दिव्य सौंदर्य का दर्शन करना चाह रहा था। यह है दिव्य-रस के आदान-प्रदान की विधि। ऐसे आचरण से भक्त तथा भगवान् अपने-अपने स्थानों में महिमा-मंडित होते हैं। भगवान्

इतने क्रुद्ध थे कि जब वे भीष्मदेव की ओर लपक रहे थे, तो अर्जुन ने उन्हें रोका, लेकिन वे माने नहीं और भीष्मदेव की ओर उसी तरह बढ़े चले जा रहे थे जिस प्रकार एक प्रेमी दूसरे प्रेमी के पास विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए बढ़ता जाता है। ऊपरी तौर से उनका संकल्प भीष्मदेव को मारने का था, लेकिन वास्तव में वे अपने महान् भक्त को प्रसन्न करना चाह रहे थे। भगवान् निस्सन्देह समस्त बद्धजीवों के उद्धारक हैं। निर्विशेषवादी उनसे मोक्ष की कामना करते हैं और वे उन्हें मनवांछित फल देते हैं, लेकिन यहाँ तो भीष्मदेव भगवान् के साक्षात् स्वरूप को देखने की इच्छा व्यक्त करते हैं। सारे शुद्ध भक्त ऐसी ही कामना करते हैं।

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे

धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।

भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-

र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ॥ ३९ ॥

**शब्दार्थ**

विजय—अर्जुन; रथ—रथ; कुटुम्बे—जान की बाजी लगाकर जिस वस्तु की रक्षा की जाय; आत्त-तोत्रे—दाहिने हाथ में चाबुक लिए; धृत-हय—घोड़ों की लगाम थामे; रश्मिनि—रस्सियाँ; तत्-श्रिया—सुन्दरतापूर्वक खड़े हुए; ईक्षणीये—देखे जाने के लिए; भगवति—भगवान् में; रतिः अस्तु—मेरा आकर्षण हो; मे—मेरा; मुमूर्षोः—मरणासन्न; यम्—जिसको; इह—इस संसार में; निरीक्ष्य—देखने से; हताः—मारे गये; गताः—प्राप्त; स्व-रूपम्—मूल रूप को।

मृत्यु के अवसर पर मेरा चरम आकर्षण भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति हो। मैं अपना ध्यान अर्जुन के उस सारथी पर एकाग्र करता हूँ, जो अपने दाहिने हाथ में चाबुक लिए थे और बाएँ हाथ से लगाम की रस्सी थामे और सभी प्रकार से अर्जुन के रथ की रक्षा करने के प्रति अत्यंत सावधान थे। जिन लोगों ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में उनका दर्शन किया, उन सबों ने मृत्यु के बाद अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लिया।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त निरन्तर अपने हृदय में भगवान् की उपस्थिति का दर्शन करता है, क्योंकि प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् से वह दिव्य रूप से सम्बन्धित रहता है। ऐसा शुद्ध भक्त भगवान् को क्षण भर के लिए भी नहीं भूल सकता। यही समाधि है। योगी अपनी इन्द्रियों को अन्य समस्त व्यापारों से हटाकर परमात्मा में एकाग्र करने का प्रयास करता है और

इस तरह अन्ततोगत्वा वह *समाधि* प्राप्त करता है। लेकिन भक्त तो भगवान् के साकार रूप के साथ-साथ उनके नाम, यश, लीलाओं आदि का निरन्तर स्मरण करते हुए, सहज ही समाधि प्राप्त कर लेता है। अतएव *योगी* तथा भक्त की एकाग्रता एक ही स्तर पर नहीं होती। योगी की एकाग्रता यान्त्रिक होती है, जबकि शुद्ध भक्त की एकाग्रता शुद्ध प्रेममय तथा नैसर्गिक स्नेहयुक्त सहज भाव होता है। भीष्मदेव शुद्ध भक्त थे और सेनानायक के रूप में, वे निरन्तर पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् के युद्धक्षेत्र वाले स्वरूप का स्मरण कर रहे थे। अतएव पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् की लीला भी शाश्वत है। भगवान् की लीलाएँ, कंस के कारागार में अपने जन्म-काल से लेकर, अंत में *मौशल लीला* तक, समस्त ब्रह्माण्डों में एक-एक करके उसी प्रकार चक्कर लगाती हैं जिस प्रकार घड़ी की सुइयाँ एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक चलती जाती हैं। और ऐसी लीला में पाण्डव तथा भीष्म जैसे उनके पार्षद उनके नित्य संगी रहते हैं। इस तरह भीष्मदेव पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् के सुन्दर-स्वरूप को, जिसे अर्जुन भी नहीं देख पाया, कभी नहीं भुला पाये। अर्जुन पार्थ-सारथी के पीछे थे, जबकि भीष्मदेव भगवान् के बिल्कुल सामने। जहाँ तक भगवान् के सैनिक वेश का सम्बन्ध है, भीष्मदेव ने इसका आस्वादन अर्जुन की अपेक्षा अधिक रुचि से किया।

कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि के सारे सैनिकों तथा व्यक्तियों ने मृत्यु के बाद भगवान् जैसा अपना मूल आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त किया, क्योंकि भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे सभी उस अवसर पर उनका साक्षात् दर्शन कर सके। जलचर से लेकर ब्रह्मा तक विकास-चक्र में चक्कर लगाते हुए सभी बद्धजीव माया के रूप में हैं या उस रूप में हैं, जिसे उन्होंने अपने कर्मों से प्राप्त किया है और जो भौतिक प्रकृति ने उन्हें प्रदान किया है। बद्धजीवों के भौतिक रूप बाहरी वस्त्रों की तरह हैं और जब बद्धजीव माया के चंगुल से छूट जाता है, तब उसे अपना मूल स्वरूप प्राप्त होता है। निर्विशेषवादी भगवान् के निराकार ब्रह्म तेज को प्राप्त करने का इच्छुक रहता है, लेकिन भगवान् के अंशस्वरूप जीवित स्फुलिंगों के लिए यह रंचमात्र भी हितकर नहीं है। अतएव निर्विशेषवादी पुनः नीचे गिरते हैं और फिर से भौतिक रूप प्राप्त करते हैं, जो आत्मा के लिए मिथ्या होते हैं।



भगवान् को आध्यात्मिक स्वरूप जैसा रूप, चाहे वह दो भुजाओं वाला हो या चतुर्भुजी, भक्तों को आत्मा की मूल प्रकृति के अनुसार वैकुण्ठ में या गोलोक में प्राप्त होता है। यह स्वरूप जो शत-प्रतिशत आध्यात्मिक है, जीव का स्वरूप है और उन सारे व्यक्तियों ने, जिन्होंने कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दोनों ओर से युद्ध किया, अपना-अपना स्वरूप प्राप्त किया जिसकी पुष्टि भीष्मदेव कर रहे हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण केवल पाण्डवों पर ही कृपालु नहीं थे। वे दूसरों पक्षों पर भी दयालु थे, क्योंकि उन सबों को एक ही जैसा फल प्राप्त हुआ। भीष्मदेव भी वही सुविधा चाह रहे थे और यही भगवान् से उनकी प्रार्थना थी, यद्यपि भगवान् के पार्षद रूप में किसी भी स्थिति में उनका पद सुरक्षित है। निष्कर्ष यह निकला कि जो भी व्यक्ति भगवान् का दर्शन करते हुए मरता है, चाहे वह दर्शन भीतर से हो या बाहर से, वह अपना स्वरूप प्राप्त करता है। वही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

ललितगतिविलासवल्गुहास-

प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।

कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः

प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥ ४० ॥

**शब्दार्थ**

ललित—आकर्षक; गति—हिलना-डुलना; विलास—मुग्ध करनेवाले कृत्य; वल्गुहास—मधुर मुस्कान; प्रणय—प्रेमपूर्ण; निरीक्षण—चितवन; कल्पित—मानसिकता; उरुमानाः—अत्यन्त महिमावान्; कृत-मनु-कृत-वत्यः—चाल का अनुकरण करने में; उन्मद-अन्धाः—आनन्द में पागल हुए; प्रकृतिम्—लक्षण; अगन्—प्राप्त किया; किल—निश्चय ही; यस्य—जिसका; गोप-वध्वः—गोपियाँ।

मेरा मन उन भगवान् श्रीकृष्ण में एकाग्र हो, जिनकी चाल तथा प्रेम भरी मुस्कान ने ब्रजधाम की रमणियों ( गोपियों ) को आकृष्ट कर लिया। [रास लीला से] भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर गोपिकाओं ने भगवान् की लाक्षणिक गतियों का अनुकरण किया।

तात्पर्य : ब्रजभूमि की गोपियों ने प्रेममय सेवा में अतीव आह्लाद से भगवान् के साथ-साथ नाचकर, माधुर्य रूप में उनका आलिंगन करके, उनके साथ हास-परिहास करके तथा प्रेमपूर्ण भाव में उनकी ओर देखकर उनके साथ एकात्म्य स्थापित किया। अर्जुन के साथ भगवान् का सम्बन्ध,

भीष्मदेव जैसे भक्त द्वारा प्रशंसनीय है, लेकिन गोपियों के साथ भगवान् का सम्बन्ध और भी अधिक शुद्ध प्रेममय सेवा के कारण अधिक प्रशंसनीय है। भगवान् की कृपा से अर्जुन को सारथी के रूप में भगवान् की भ्रातृ सेवा प्राप्त हुई थी, लेकिन भगवान् ने अर्जुन को अपने समान स्तर की शक्ति प्रदान नहीं की। किन्तु गोपियाँ तो भगवान् के बराबर का स्तर प्राप्त करके असल में भगवान् के साथ एकात्म हो गईं। भीष्म द्वारा गोपियों के स्मरण उनकी इस आकांक्षा की एक प्रार्थना है, जिससे उन्हें जीवन की अन्तिम अवस्था में गोपियों की कृपा भी प्राप्त हो सके। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों को महिमामण्डित होते देखकर अधिक प्रसन्न होते हैं, अतएव भीष्मदेव ने केवल अर्जुन के कृत्यों का ही यशोगान नहीं किया, अपितु गोपियों का भी स्मरण किया, जिन्हें भगवान् की प्रेममयी सेवा करने के कारण भगवान् की अद्वितीय कृपा प्राप्त हो सकी। भगवान् के साथ गोपियों की समता कभी भी निर्विशेषवादियों के सायुज्य मोक्ष के समान समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। यह समता पूर्ण आह्लाद की है, जहाँ अन्तर पूर्णतया मिट जाता है, क्योंकि प्रेमी-प्रेमिका के हित आपस में जुड़ जाते हैं।

मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तः

सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।

अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो

मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥ ४१ ॥

**शब्दार्थ**

मुनि-गण—परम विद्वान् साधुजन; नृप-वर्य—महान् शासक राजा; सङ्कुले—समूह में से; अन्तः-सदसि—सभा, सम्मेलन में; युधिष्ठिर—महाराज युधिष्ठिर का; राज-सूये—राजा द्वारा सम्पन्न यज्ञ; एषाम्—समस्त महापुरुषों का; अर्हणम्—सादर पूजा; उपपेद—प्राप्त किया; ईक्षणीयः—आकर्षण की वस्तु; मम—मेरी; दृशि—दृष्टि; गोचरः—जितना दिखे उसी के भीतर, समक्ष; एषः आविः—उपस्थिति; आत्मा—आत्मा ।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ में विश्व के सारे महापुरुषों, राजाओं तथा विद्वानों की एक महान् सभा हुई थी और उस सभा में सबों ने श्रीकृष्ण की पूजा परम पूज्य भगवान् के रूप में की थी। यह सब मेरी आँखों के सामने हुआ और मैंने इस घटना को याद रखा, जिससे मेरा मन भगवान् में लगा रहे।

**तात्पर्य :** कुरुक्षेत्र युद्ध में विजयी होने के बाद चक्रवर्ती सम्राट् महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया। उन दिनों, सिंहासन पर बैठने के बाद, राजा अपनी श्रेष्ठता घोषित करने के उद्देश्य से विश्वभर में विचरण हेतु एक घोड़ा छोड़ता था और किसी भी राजकुमार या राजा को यह स्वतन्त्रता थी कि वह उस सम्राट की सत्ता को माने या न माने। जो विरोध करता था, उसे सम्राट से युद्ध करके विजय द्वारा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी होती थी। हारने पर उसे अपने जीवन की बलि देनी होती थी जिससे उसके स्थान पर दूसरा राजा या प्रशासक बन सके। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने भी ऐसा ही घोड़ा छोड़ा और संसार भर के राजाओं तथा राजकुमारों ने महाराज युधिष्ठिर के नेतृत्व को चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के राज्य के सारे शासकों को राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया गया। ऐसे यज्ञ में अरबों रुपये व्यय होते थे, अतएव यह छोटे-मोटे राजाओं के बस की बात न थी। ऐसा यज्ञ, अत्यधिक खर्चीला होने तथा वर्तमान परिस्थितियों में सम्पन्न कर पाने में कठिन होने से, इस कलियुग में सम्भव नहीं है। न ही कोई ऐसे पुरोहित रह गये हैं, जो ऐसे यज्ञ का भार अपने ऊपर ले सकें।

इस प्रकार आमन्त्रित होने के बाद, संसार भर के राजा तथा बड़े-बड़े मुनिजन महाराज युधिष्ठिर की राजधानी में एकत्र हुए। इस अवसर पर एक विद्वत्सभा बुलाई गई, जिसमें बड़े-बड़े दार्शनिक, धर्मज्ञ, वैद्य, विज्ञानी तथा सारे महान् ऋषि सम्मिलित हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सर्वोच्च व्यक्ति होते थे, और वे सभी उस सभा में आमन्त्रित थे। समाज में वैश्य तथा शूद्रों का स्थान कम महत्त्वपूर्ण होता था, अतएव यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है। आधुनिक युग में सामाजिक कार्यकलापों में परिवर्तन होने से, वृत्तिपरक पदों के रूप में मनुष्यों की महत्ता भी बदल गई है।

इस तरह उस महान सभा में, भगवान श्रीकृष्ण सबकी आखों के तारे बने हुए थे। प्रत्येक व्यक्ति भगवान् कृष्ण को देखना चाह रहा था और प्रत्येक व्यक्ति उनको विनम्रता के साथ प्रणाम करना चाहता था। भीष्मदेव को यह सब कुछ स्मरण था, अतएव उन्हें प्रसन्नता थी कि उनके

आराध्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उनकी आँखों के सामने अपने वास्तविक स्वरूप में उपस्थित थे। अतएव परमेश्वर का ध्यान करना उनके कार्यकलापों, रूप, लीलाओं, नाम तथा यश का ध्यान करना है। यह उससे सरल है, जिस को सर्वोपरि के निराकार पक्ष का ध्यान माना जाता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में यह स्पष्ट कथन है कि भगवान् के निराकार पक्ष का ध्यान करना अत्यन्त कठिन है। यह वास्तव में कोई ध्यान नहीं, यह तो समय का अपव्यय मात्र है, क्योंकि इससे शायद ही कभी वांछित फल प्राप्त होता है। किन्तु भक्तगण भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी लीलाओं का ध्यान करते हैं, और ऐसे में भगवान् भक्तों के लिए सहज सुलभ हैं। इसका उल्लेख भी *भगवद्गीता* (१२.९) में हुआ है। भगवान् अपने दिव्य कार्यकलापों से अभिन्न हैं। इस श्लोक में इसका भी संकेत हुआ है कि जब भगवान् कृष्ण मानव समाज के समक्ष वास्तविक रूप में, विशेष रूप से कुरुक्षेत्र के युद्ध में, उपस्थित हुए तो वे उस समय के महानतम पुरुष माने गये, भले ही तब उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न स्वीकार किया गया हो। यह प्रचार कि कोई महापुरुष मृत्यु के बाद ईश्वर की भाँति पूजा जाता है, भ्रामक है, क्योंकि मृत्यु के बाद कोई भी मनुष्य को ईश्वर नहीं बनाया जा सकता। न ही भगवान् कभी मनुष्य हो सकते हैं, भले ही वे साक्षात् विद्यमान क्यों न हों। ये दोनों ही विचार भ्रान्तिमूलक हैं। *मानववाद* का विचार भगवान् कृष्ण पर लागू नहीं होता।

तमिममहमजं शरीरभाजां  
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।  
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं  
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥ ४२ ॥

### शब्दार्थ

तम्—उस भगवान् को; इमम्—इस समय जो मेरे समक्ष है; अहम्—मैं; अजम्—अजन्मा; शरीर-भाजाम्—बद्धजीव के; हृदि—हृदय में; हृदि—हृदय में; धिष्ठितम्—स्थित; आत्म—परमात्मा; कल्पितानाम्—शुष्क चिन्तकों का; प्रतिदृशम्—प्रत्येक दिशा में; इव—सदृश; न एकधा—एक नहीं; अर्कम्—सूर्य को; एकम्—केवल एक; समधि-गतः अस्मि—मैं ध्यान में समाधिस्थ हूँ; विधूत—मुक्त होकर; भेद-मोहः—द्वैत की भ्रांत धारणा से।

अब मैं पूर्ण एकाग्रता से एक ईश्वर श्रीकृष्ण का ध्यान कर सकता हूँ, जो इस समय मेरे सामने उपस्थित हैं, क्योंकि अब मैं प्रत्येक के हृदय में, यहाँ तक कि मनोधर्मियों के हृदय में भी रहनेवाले उनके प्रति द्वैत भाव की स्थिति को पार कर चुका हूँ। वे सबों के हृदय में रहते हैं। भले ही सूर्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुभव किया जाय, किन्तु सूर्य तो एक ही है।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ही एक परम भगवान् हैं, लेकिन उन्होंने अपनी अकल्पनीय शक्ति के द्वारा अपने आपको अनेक अंशों में विस्तारित कर रखा है। द्वैतभाव उनकी इस अकल्पनीय शक्ति को न जानने से उत्पन्न होता है। *भगवद्गीता* (९.११) में भगवान् कहते हैं कि जो मूर्ख हैं, वे ही उन्हें मात्र मनुष्य मानते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से अवगत नहीं रहते। वे अपनी अकल्पनीय शक्ति से सबों के हृदय में उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस प्रकार सूर्य संसार भर के लोगों की आँखों के सामने विद्यमान है। भगवान् का परमात्मा रूप उनके पूर्ण अंश का विस्तार है। वे अपनी अकल्पनीय शक्ति से प्रत्येक के हृदय में परमात्मा-रूप में अपना विस्तार करते हैं। वे अपने व्यक्तिगत तेज के विस्तार के द्वारा ब्रह्मज्योति के जाज्वल्यमान तेज के रूप में अपना विस्तार करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *ब्रह्मज्योति* उनका व्यक्तिगत तेज है। अतएव उनमें तथा उनके तेज *ब्रह्मज्योति* या परमात्मा-रूप में उनके पूर्ण अंशों में कोई अन्तर नहीं है। अल्पज्ञानी लोग, जिन्हें इस तथ्य का पता नहीं है, वे ब्रह्मज्योति तथा परमात्मा को श्रीकृष्ण से भिन्न समझते हैं। भीष्मदेव के मन से द्वैतभाव की यह धारणा पूर्ण रूप से मिट जाती है और वे अब सन्तुष्ट हैं कि वे भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जो सब कुछ हैं। यह अनुभूति महात्माओं या भक्तों को ही प्राप्त होता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है कि वासुदेव ही सर्वेसर्वा हैं और वासुदेव के बिना, किसी का कोई अस्तित्व नहीं है। वासुदेव या भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि परम पुरुष हैं, जिसकी पुष्टि अब एक *महाजन* द्वारा हो रही है, अतएव नवदीक्षितों तथा शुद्ध भक्तों दोनों को समान रूप से उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिए। भक्ति मार्ग के लिए यही विधि है।

भीष्मदेव के आराध्य, पार्थ-सारथी रूप में भगवान् श्रीकृष्ण हैं और वही कृष्ण वृन्दावन में गोपियों के सर्वाधिक मनोहर श्यामसुन्दर हैं। कभी-कभी अल्पज्ञ अध्येता भूलवश यह सोचते हैं कि वृन्दावन के कृष्ण तथा कुरुक्षेत्र युद्ध वाले कृष्ण पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व हैं। लेकिन भीष्मदेव के मन से यह भ्रान्ति पूरी तरह दूर हो चुकी है। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों के लक्ष्य निराकार ज्योति के रूप में कृष्ण ही हैं, और योगियों के लक्ष्य परमात्मा भी कृष्ण हैं। कृष्ण ब्रह्मज्योति तथा अन्तर्यामी परमात्मा दोनों ही हैं, लेकिन ब्रह्मज्योति या परमात्मा में, न तो कृष्ण होते हैं न कृष्ण के मधुर सम्बन्ध। अपने साकार रूप में कृष्ण पार्थसारथी तथा वृन्दावन के श्यामसुन्दर दोनों ही हैं, लेकिन निराकार पक्ष में वे न तो ब्रह्मज्योति में हैं न ही परमात्मा में। भीष्मदेव जैसे महात्मा, श्रीकृष्ण के इन विभिन्न स्वरूपों का अनुभव कर सकते हैं, अतएव वे श्रीकृष्ण को समस्त स्वरूपों का उद्गम जानकर, उन्हीं की पूजा करते हैं।

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।

आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥ ४३ ॥

**शब्दार्थ**

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; कृष्णो—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में; एवम्—एकमात्र; भगवति—भगवान् में; मनः—मन से; वाक्—वाणी से; दृष्टि—दृष्टि से; वृत्तिभिः—कार्यों से; आत्मनि—परमात्मा में; आत्मानम्—जीव को; आवेश्य—लीन करके; सः—वे; अन्तः-श्वासः—श्वास खींचकर; उपारमत्—शान्त हो गए।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भीष्मदेव ने मन, वाणी, दृष्टि तथा कार्यों से अपने आपको परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण में लीन कर दिया और शान्त हो गये और उनकी श्वास रुक गई।

**तात्पर्य :** भीष्मदेव द्वारा अपना भौतिक शरीर त्यागते समय प्राप्त की गई अवस्था निर्विकल्प-समाधि कहलाती है, क्योंकि उन्होंने अपने आत्मा को भगवान् का चिन्तन करने में और अपने मन को उनके विभिन्न कार्य-कलापों का स्मरण करने में लीन कर दिया था। उन्होंने भगवान् की महिमा का कीर्तन किया और अपनी दृष्टि से वे अपने समक्ष खड़े साक्षात् भगवान् का

दर्शन करते रहे और इस प्रकार उनके सारे कार्य-कलाप अविचल भाव से भगवान् में एकाग्र हो गये। यह सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था है और भक्तिमय सेवा का अभ्यास करके हर किसी के लिए इस अवस्था को प्राप्त करना संभव है। भगवान् की भक्ति में नौ सेवा-सिद्धान्त होते हैं। वे हैं— १) श्रवण, २) कीर्तन, ३) स्मरण, ४) चरणकमल की सेवा, ५) पूजा, ६) स्तुति, ७) आज्ञा-पालन, ८) सख्य तथा ९) आत्म-समर्पण। इनमें से कोई एक या सभी वांछित फल को देनेवाले हैं, लेकिन किसी दक्ष भगवद्भक्त के पथ-प्रदर्शन में ही इनका निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है। इनमें से प्रथम चरण श्रवण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अतएव जो व्यक्ति अन्त में भीष्मदेव जैसी अवस्था प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए *भगवद्गीता* का और फिर *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करना आवश्यक है। हमें भी मृत्यु के समय भीष्मदेव को प्राप्त होने वाली अपूर्व स्थिति प्राप्त हो सकती है, भले ही साक्षात् भगवान् कृष्ण उपस्थित न भी हों। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* के भगवान् के शब्द उनसे अभिन्न हैं। वे भगवान् के शब्द अवतार हैं और कोई भी मनुष्य, आठ वसुओं में से एक श्री भीष्मदेव जैसी अवस्था प्राप्त करके इनका लाभ उठा सकता है। प्रत्येक मनुष्य या पशु को एक निश्चित आयु में मरना होता है, लेकिन जो व्यक्ति भीष्मदेव की तरह मरता है, वह पूर्णता प्राप्त करता है और जो प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर मरता है, वह पशु की तरह मरता है। मनुष्य तथा पशु में यही अन्तर है। यह मनुष्य जीवन विशिष्ट रूप से भीष्मदेव-जैसी मृत्यु के लिए है।

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।

सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ॥ ४४ ॥

### शब्दार्थ

सम्पद्यमानम्—में लीन होकर; आज्ञाय—इसे जानकर; भीष्मम्—श्री भीष्मदेव के विषय में; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; निष्कले—असीम; सर्वे—उपस्थित सभी लोग; बभूवुः ते—वे सब हो गये; तूष्णीम्—मौन; वयांसि इव—पक्षियों की तरह; दिन-अत्यये—दिन के समाप्त होने पर।

यह जानकर कि भीष्मदेव अनन्त परम पूर्ण में लीन हो गये, वहाँ पर उपस्थित सारे लोग उसी तरह मौन हो गये, जिस प्रकार दिन समाप्त होने पर पक्षी मौन हो जाते हैं।

**तात्पर्य :** परम पूर्ण की अनन्त शाश्वतता में प्रविष्ट होना या लीन होने का अर्थ है, जीव के मूल धाम में प्रविष्ट होना। सारे जीव परमेश्वर के परम व्यक्तित्व के ही अंश हैं, अतएव वे उनसे सेवक तथा सेव्य भाव से शाश्वत रूप में सम्बन्धित हैं। भगवान् अपने समस्त अंशों द्वारा उसी तरह सेवित हैं, जिस प्रकार पूरी मशीन अपने कल-पुर्जों से संचालित होती है। यदि मशीन का कोई पुर्जा उससे विलग कर दिया जाय, तो उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। इसी प्रकार भगवान् की सेवा से विलग, उनका कोई भी अंश, व्यर्थ हो जाता है। भौतिक जगत में जितने भी जीव हैं, वे सारे परम पूर्ण से पृथक् हुए अंश हैं और वे मूल अंशों के तुल्य महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते हैं। तथापि कुछ जीव अधिक जुड़े हुए होते हैं, जो नित्य मुक्त होते हैं। भगवान् की भौतिक शक्ति, जिसे दुर्गाशक्ति या बन्दीगृह की अध्यक्षता कहा जाता है, सारे छितराए हुए अंशों का भार अपने ऊपर ले लेती है और इस प्रकार ये जीव प्रकृति के नियमानुसार बद्ध जीवन बिताते हैं। जब जीव को इसका आभास हो जाता है, तब वह अपने घर अर्थात् भगवद्धाम को वापस जाना चाहता है और इस प्रकार जीव में आध्यात्मिक जिज्ञासा जगती है। यह आध्यात्मिक जिज्ञासा *ब्रह्म-जिज्ञासा* कहलाती है। प्रमुख रूप से यह *ब्रह्म-जिज्ञासा* ज्ञान, वैराग्य तथा भगवद्भक्ति से सफलीभूत होती है। *ज्ञान* का अर्थ है, परम ब्रह्म अर्थात् परम पूर्ण विषयक प्रत्येक वस्तु का ज्ञान। वैराग्य का अर्थ है भौतिक आसक्ति से विरक्ति और भक्तिमय सेवा जीव की मूल स्थिति के द्वारा अभ्यास किया जाने वाला पुनर्जागरण है। जो सफल जीव परम पूर्ण के राज्य में प्रवेश करने के अधिकारी होते हैं, वे *ज्ञानी*, *योगी* तथा *भक्त* कहलाते हैं। *ज्ञानी* तथा *योगी* भगवान् के व्यक्तित्वहीन तेज में प्रविष्ट होते हैं, लेकिन भक्त वैकुण्ठलोक कहे जाने वाले दिव्य लोकों में प्रविष्ट होते हैं। इन दिव्य लोकों में नारायण के रूप में परमेश्वर का आधिपत्य रहता है और स्वस्थ तथा मुक्त जीव दास, सखा, माता-पिता तथा प्रेमी के रूप में भगवान् की प्रेममयी सेवा करते हुए वहाँ रहते हैं। वहाँ मुक्त जीव भगवान् के साथ पूर्ण उन्मुक्तता में रहकर जीवन का आनन्द उठाते हैं, लेकिन निराकारवादी *ज्ञानी* तथा *योगी* वैकुण्ठलोक के निर्विशेष तेज में प्रवेश करते हैं। वैकुण्ठलोक का ग्रह सूर्य के समान स्वतः प्रदीप्त रहते हैं और वैकुण्ठके ग्रहों की किरणों



ब्रह्मज्योति कहलाती हैं। इस ब्रह्मज्योति का अनन्त प्रसार रहता है और यह भौतिक जगत इस ब्रह्मज्योति का ढका हुआ एक नगण्य अंश मात्र है। यह आवरण क्षणिक है, अतएव यह एक प्रकार का भ्रम (मोह) है।

भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण, भीष्मदेव आध्यात्मिक क्षेत्र में वैकुण्ठग्रहों में से एक में प्रविष्ट हुए, जहाँ भगवान् अपने पार्थसारथी रूप में मुक्त जीवों के ऊपर अधिकार जमाये हुए हैं और वे जीव निरन्तर उनकी सेवा में लगे रहते हैं। भगवान् तथा भक्त जिस प्रेम तथा स्नेह से बँधे रहते हैं, वह भीष्मदेव में प्रकट है। भीष्मदेव भगवान् के पार्थसारथी वाले दिव्य स्वरूप को कभी नहीं भूले और जिस समय भीष्मदेव दिव्यलोक को प्रयाण कर रहे थे, तब भगवान् सशरीर उनके समक्ष उपस्थित थे। यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः ।

शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ॥ ४५ ॥

### शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; दुन्दुभयः—नगाड़े; नेदुः—बजने लगे; देव—अन्य ग्रहों के देवता; मानव—सारे देशों के मनुष्य; वादिताः—के द्वारा बजाये जाकर; शशंसुः—प्रशंसा की; साधवः—ईमानदार; राज्ञाम्—राजाओं के द्वारा; खात्—आकाश से; पेतुः—गिरने लगी; पुष्प-वृष्टयः—पुष्पों की वर्षा।

तत्पश्चात् मनुष्यों तथा देवताओं ने सम्मान में नगाड़े बजाये और निष्ठावान राजाओं ने सम्मान तथा आदर प्रदर्शित किया और आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी।

तात्पर्य : मनुष्य तथा देवता दोनों ही भीष्मदेव का आदर करते थे। मनुष्य पृथ्वी पर एवं ऐसे ही अन्य ग्रहों के समूह भूः तथा भुवः में रहते हैं, लेकिन देवता स्वः अर्थात् स्वर्ग लोक में रहते हैं और वे सभी भीष्मदेव को एक महान योद्धा तथा भगवद्भक्त के रूप में जानते थे। महाजन (या अधिकारी) के रूप में वे ब्रह्मा, नारद तथा शिव के तुल्य थे, यद्यपि वे एक मानव थे। देवताओं के तुल्य योग्यता आध्यात्मिक पूर्णता मिलने पर ही होती है। इस प्रकार भीष्मदेव ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विख्यात थे और उनके समय में, एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा, व्यर्थ के यान्त्रिक अन्तरिक्ष यानों के द्वारा नहीं, अपितु सूक्ष्मतर विधियों से सम्पन्न की जाती थी। जब सुदूर ग्रहों को भीष्मदेव

के निधन की सूचना भेजी गई, तो उच्च लोकों के निवासियों ने तथा पृथ्वी के निवासियों ने दिवंगत महापुरुष के सम्मान में पुष्पों की वर्षा की। स्वर्ग से फूलों की वर्षा देवताओं द्वारा मान्यता का चिह्न है और इसकी तुलना कभी भी शव को फूलों से सजाने से नहीं की जानी चाहिए। आत्म-साक्षात्कार के कारण भीष्मदेव के शरीर का भौतिक प्रभाव मिट चुका था और उनका शरीर उसी प्रकार आध्यात्मिक बन गया था, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में आकर लोहा तप्त-लाल हो जाता है। अतएव पूर्णतः स्वरूपसिद्ध व्यक्ति का शरीर भौतिक नहीं माना जाता। ऐसे आध्यात्मिक शरीरों के लिए विशेष उत्सव मनाये जाते हैं। भीष्मदेव के सम्मान का तथा उनकी मान्यता का अनुकरण कभी कृत्रिम साधनों से नहीं करना चाहिए, क्योंकि आजकल हर सामान्य व्यक्ति का जयन्ती समारोह मनाया जाता है। प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार किसी सामान्य व्यक्ति का, चाहे वह भौतिक दृष्टि से कितना ही बड़ा क्यों न हो, जयन्ती उत्सव मनाना भगवान् के प्रति अपराध है, क्योंकि जयन्ती तो धरा पर भगवान् के आविर्भाव दिवस के लिए सुरक्षित है। भीष्मदेव अपने कार्य-कलापों के कारण अद्भुत थे और उनका ईश्वर के धाम को प्रयाण भी अद्भुत है।

तस्य निर्हरणादीनि सम्प्रेतस्य भार्गव ।

युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥ ४६ ॥

**शब्दार्थ**

तस्य—उसका; निर्हरण-आदीनि—दाह संस्कार; सम्प्रेतस्य—मृत देह का; भार्गव—हे भृगुवंशी; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर; कारयित्वा—सम्पन्न करके; मुहूर्तम्—क्षण भर के लिए; दुःखितः—दुखी; अभवत्—हुए।

हे भृगुवंशी ( शौनक ), भीष्मदेव के मृत देह का दाह संस्कार सम्पन्न करने के बाद, महाराज युधिष्ठिर क्षण भर के लिए शोकाभिभूत हो गये।

**तात्पर्य :** भीष्मदेव न केवल महाराज युधिष्ठिर के परिवार के मुखिया थे, अपितु एक महान दार्शनिक और उनके भाइयों एवं माता के लिए मित्र भी थे। चूँकि सबसे ज्येष्ठ युधिष्ठिर समेत पाँच पाण्डवों के पिता महाराज पाण्डु मर चुके थे, अतएव भीष्मदेव ही पाण्डवों के सर्वाधिक वत्सल पितामह और विधवा पुत्रवधू कुन्तीदेवी के संरक्षक थे। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर के ताऊ, महाराज

धृतराष्ट्र, उनकी देख-रेख के लिए जीवित थे, लेकिन उनका स्नेह सबसे ज्येष्ठ दुर्योधन आदि अपने सौ पुत्रों की ओर अधिक था। अन्ततोगत्वा पाँचों पितृविहीन भाइयों को हस्तिनापुर राज्य के अधिकार से वंचित करने के लिए षड्यन्त्र रचा गया। राजमहलों में सामान्य रूप से जैसा होता है, कपट चाल चली गई और पाँचों भाइयों को वनवास दे दिया गया। लेकिन भीष्मदेव महाराज युधिष्ठिर के प्रति निष्कपट भाव से अपने अन्तिम क्षण तक भी शुभचिन्तक, पितामह, मित्र तथा दार्शनिक बने रहे। वे महाराज युधिष्ठिर को सिंहासन पर बैठा देखकर, खुशी-खुशी मृत्यु को वरण किए, अन्यथा वे पाण्डवों को दिए जा रहे अनुचित कष्टों के कारण अपने कष्टों को सहने के बजाय, बहुत पहले शरीर त्याग कर चुके होते। वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में पाण्डुपुत्र अवश्य विजयी होंगे, क्योंकि उनके रक्षक श्रीकृष्ण थे। किन्तु भगवद्भक्त होने के कारण वे जानते थे कि भगवान् के भक्त को कभी विनष्ट नहीं किया जा सकता। महाराज युधिष्ठिर को भीष्मदेव की इन सारी शुभेच्छाओं का पता था, अतएव वे अवश्य ही अत्यधिक वियोग का अनुभव कर रहे होंगे। वे इस महान् आत्मा के विछोह से शोकाकुल थे, उनके उस भौतिक शरीर के लिए नहीं, जो भीष्मदेव ने त्यागा था। अन्त्येष्टि क्रिया एक आवश्यक कर्तव्य था, यद्यपि भीष्मदेव मुक्त आत्मा थे। चूँकि भीष्मदेव निःसन्तान थे, अतएव सबसे बड़े पौत्र, महाराज युधिष्ठिर इस अन्त्येष्टि क्रिया को सम्पन्न करने के समुचित अधिकारी थे। यह भीष्मदेव के लिए वरदानस्वरूप था कि परिवार के समरूप ही एक महान व्यक्ति ने इस महापुरुष के अन्तिम संस्कार सम्पन्न किये।

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः ।

ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥ ४७ ॥

### शब्दार्थ

तुष्टुवुः—सन्तुष्ट हुए; मुनयः—व्यासदेव आदि मुनिगण.; हृष्टाः—प्रसन्न मुद्रा में; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; तत्—उसका; गुह्य—गोपनीय; नामभिः—उनके नाम से.; ततः—तत्पश्चात्; ते—वे; कृष्ण-हृदयाः—कृष्ण को हृदय में धारण करनेवाले; स्व-आश्रमान्—अपने-अपने आश्रमों को; प्रययुः—लौट गये; पुनः—फिर।

तब समस्त मुनियों ने वहाँ पर उपस्थित भगवान् श्रीकृष्ण का यशोगान गुह्य वैदिक मन्त्रों से किया। वे भगवान् कृष्ण को सदा के लिए अपने हृदय में धारण करके अपने-अपने आश्रमों को लौट गए।

तात्पर्य : भगवान् के भक्त सदा ही भगवान् के हृदय में रहते हैं और भगवान् सदैव भक्तों के हृदय में रहते हैं। भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य यही मधुर सम्बन्ध होता है। भगवान् के लिए अनन्य प्रेम तथा भक्ति के कारण, भक्तगण उन्हें सदा अपने अन्दर देखते हैं और भगवान् भी, यद्यपि उन्हें न कुछ लेना-देना रहता है और न कोई आकांक्षा, अपने भक्तों के कल्याण-कार्य में लगे रहते हैं। सामान्य जीवों के लिए सारे कर्मों तथा फलों के लिए प्रकृति के नियम बने हैं, तथापि भगवान् अपने भक्तों को सन्मार्ग पर लाने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। अतएव भक्तगण भगवान् की सीधी देख-रेख में रहते हैं, और भगवान् भी स्वेच्छा से अपने आपको भक्तों की देख-रेख में ही रखते हैं। चूँकि व्यासदेव आदि सारे मुनि भगवान् के भक्त थे, अतएव अन्त्येष्टि-क्रिया के बाद सबों ने वहाँ पर उपस्थित भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया। सारे वैदिक मन्त्र भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पढ़े जाते हैं। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१५.१५) में हुई है। सारे वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि उन्हीं को खोजते हैं और सारे मन्त्र उन्हीं के यशोगान के लिए ही हैं। अतएव मुनियों ने अवसर के अनुकूल कृत्य किये और खुशी-खुशी अपने-अपने आश्रमों को लौट गये।

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् ।  
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥ ४८ ॥

### शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर ने; गत्वा—वहाँ जाकर; सह—साथ; कृष्णः—भगवान् के; गजाह्वयम्—गजाह्वय, हस्तिनापुर नाम की राजधानी में; पितरम्—अपने ताऊ ( धृतराष्ट्र ) को; सान्त्वयाम् आस—ढाढस बाँधाया; गान्धारीम्—धृतराष्ट्र की पत्नी को; च—तथा; तपस्विनीम्—तपस्विनी ।

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ तुरन्त ही अपनी राजधानी, हस्तिनापुर गये और वहाँ पर अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा अपनी ताई तपस्विनी गान्धारी को ढाढस बँधाया।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र तथा गान्धारी दुर्योधन आदि सौ भाइयों के पिता-माता थे और नाते में वे महाराज युधिष्ठिर के ताऊ-ताई लगते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अपने सारे पुत्र-पौत्रों को खो देने से यह यशस्वी दम्पति महाराज युधिष्ठिर के संरक्षण में था। वे इतनी अपार क्षति से उत्पन्न कष्ट से घोर सन्तप्त थे और तपस्वियों का-सा जीवन बिता रहे थे। धृतराष्ट्र के चाचा, भीष्मदेव की मृत्यु इन राजा-रानी के लिए दूसरा गहरा आघात था, अतएव उन्हें महाराज युधिष्ठिर से सान्त्वना की आवश्यकता थी। महाराज युधिष्ठिर को अपने कर्तव्य का ज्ञान था, अतएव वे कृष्ण सहित तुरन्त उस स्थान पर पहुँचे और शोकाकुल धृतराष्ट्र को दयामय शब्दों से अपनी और भगवान् की ओर से सान्त्वना दी।

यद्यपि गान्धारी आज्ञाकारिणी पत्नी तथा दयालु माता का जीवन बिता रही थीं, लेकिन वे शक्तिमान तपस्विनी भी थीं। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने अपने पति के अन्धत्व के कारण स्वेच्छा से अपनी भी आँखें बन्द कर रखी थीं। पत्नी का कर्तव्य है कि पति का शत-प्रतिशत अनुगमन करे और गान्धारी इतनी पति-परायणा थीं कि पति के निरन्तर अन्धत्व में उनका अनुगमन करती रहीं। अतएव वे अपने कार्यों से महान तपस्विनी थीं। इसके अतिरिक्त अपने सौ पुत्रों तथा पौत्रों के सामूहिक वध से उन्हें अवश्य ही गहरा आघात लगा होगा, जो किसी भी स्त्री के लिए दुस्तर है। लेकिन उन्होंने, तपस्विनी की भाँति, यह सब कुछ सह लिया। स्त्री होते हुए भी गान्धारी का चरित्र भीष्मदेव से किसी तरह कम नहीं था। ये दोनों *महाभारत* में सुप्रसिद्ध चरित्र हैं।

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।

चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥ ४९ ॥

## शब्दार्थ

पित्रा—ताऊ धृतराष्ट्र द्वारा; च—तथा; अनुमतः—उनकी अनुमति से; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; वासुदेव-अनुमोदितः—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पुष्ट किये जाने पर; चकार—चलाया; राज्यम्—राज्य; धर्मेण—राज-नियमों के सिद्धान्त अनुसार; पितृ—पिता; पैतामहम्—पूर्वज जैसा; विभुः—महान्।

तत्पश्चात् परम धर्मात्मा राजा महाराज युधिष्ठिर ने अपने ताऊ द्वारा प्रतिपादित तथा श्रीकृष्ण द्वारा अनुमोदित राजनियमों के सिद्धान्त अनुसार साम्राज्य का संचालन किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर मात्र कर-संग्रहकर्ता न थे। वे राजा के कर्तव्य के प्रति सदैव सचेष्ट रहे, क्योंकि राजा पिता या गुरु से कम नहीं होता। राजा को प्रजा की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के सभी दृष्टिकोणों से भलाई देखनी होती है। राजा को जानना चाहिए कि मनुष्य जीवन बद्ध आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्त करने के लिए है, अतएव उसका धर्म है कि वह प्रजा की ठीक से देखभाल करे, जिससे प्रजा सिद्धि की चरमावस्था को प्राप्त कर सके।

महाराज युधिष्ठिर ने इन नियमों का दृढ़ता से पालन किया, जैसाकि अगले अध्याय से पता चलेगा। उन्होंने न केवल नियमों का पालन किया, अपितु अपने वृद्ध ताऊ की सहमति भी प्राप्त की, जो राजनीतिक मामलों में अनुभवी थे और उसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण द्वारा भी की गई, जो भगवद्गीता दर्शन के वक्ता हैं।

महाराज युधिष्ठिर आदर्श राजा थे और महाराज युधिष्ठिर जैसे प्रशिक्षित राजा के अधीन एक राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ सरकार है, जो आधुनिक गणतन्त्रों या सरकारों से कहीं श्रेष्ठ है। इस कलियुग में अधिकांश लोग जन्मजात शूद्र हैं, जो निम्न कुल में उत्पन्न हैं, जो ठीक से प्रशिक्षित नहीं होते जो अभागे तथा कुसंगति में रहनेवाले हैं। उन्हें जीवन के परम उद्देश्य का भी पता नहीं रहता। अतएव उनके द्वारा किए गए मतदान का कोई महत्त्व नहीं है, अतः ऐसे गैरजिम्मेदार मतों द्वारा चुने गए प्रतिनिधि कभी भी महाराज युधिष्ठिर के समान जिम्मेदार नहीं हो सकते।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में भीष्मदेव का देह-त्याग' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।